7

।। प्राचीन जैन तीर्थ ।।

पण्डित कल्याणविजयजी गणी

*** उपक्रम :**

पूर्वकाल में 'तीर्थ' शब्द मौलिक रूप से जैन प्रवचन अथवा चतुर्विध संघ के अर्थ में प्रयुक्त होता था, ऐसा जैन आगमों से ज्ञात होता है। जैन प्रवचनकर्ता और जैनसंघ के संस्थापक होने से ही जिनदेव तीर्थंकर कहलाते हैं।

तीर्थ का शब्दार्थ यहाँ नदी समुद्र में उतरने अथवा उनसे बाहर निकलने का सुरक्षित मार्ग होता है। आज की भाषा में इसे घाट और बन्दर कह सकते हैं।

संसार समुद्र को पार कराने वाले जिनागम को और जैन-श्रमण संघ को भावतीर्थ बताया गया है, और इसकी व्युत्पत्ति **'तीर्यते संसारसागरो येन तत् तीर्थम्''** इस प्रकार की गई है, एवं नदी समुद्रों को पार कराने वाले तीर्थों को द्रव्य तीर्थ माना गया है।

उपर्युक्त तीर्थों के अतिरिक्त जैन-आगमों में कुछ और भी तीर्थ माने गये हैं, जिन्हें पिछले ग्रन्थकारों ने स्थावर-तीर्थों के नाम से निर्दिष्ट किया है, और वे दर्शन की शुद्धि करने वाले माने गये हैं। इन स्थावर तीर्थों का निर्देश आचारांग, आवश्यक आदि सूत्रों की निर्युक्तियों में मिलता है, जो मौर्यकालीन ग्रन्थ हैं।

(क) जैन स्थावर तीर्थों में (१) अष्टापद, (२) उज्जयन्त, (३) गजाग्रपद, (४) धर्मचक्र, (५) अहिच्छत्र पार्श्वनाथ, (६) रथावर्त पर्वत, (७) चमरोत्पात, (८) शत्रुंजय, (९) सम्मेतशिखर और (१०) मथुरा का देव निर्मित स्तूप इत्यादि तीर्थों का संक्षिप्त अथवा विस्तृत वर्णन जैनसूत्रों तथा सूत्रों की निर्युक्ति व भाष्यों में मिलता है।

(ख) (१) हस्तिनापुर, (२) शौरीपुर, (३) मथुरा, (४) अयोध्या, (५) काम्पिल्यपुर, (६) वाराणसी (काशी), (७) श्रावस्ती, (८) क्षत्रियकुण्ड, (९) मिथिला, (१०) राजगृह, (११) अपापा (पावापुरी), (१२) भद्दिलपुर, (१३) चम्पापुरी, (१४) कौशाम्बी, (१५) रत्नपुर, (१६) चन्द्रपुरी आदि स्थान भी तीर्थंकरों की जन्म, दीक्षा, ज्ञान, निर्वाण की भूमियाँ होने के कारण जैनों के

Various Jain Tirth Vol. IV Ch. 21-E, Pg. 1190-1192 & Nibandh Nischay Vol. I Ch. 1-D, Pg. 67-70

प्राचीन तीर्थ थे, परन्तु वर्तमान समय में इनमें से अधिकांश विलुप्त हो चुके हैं। कुछ कल्याणक भूमियों में आज भी छोटे-बड़े जिन मन्दिर बने हुए हैं, और यात्रिक लोग दर्शनार्थ जाते भी हैं। परन्तु इनका पुरातन महत्त्व आज नहीं रहा। इन तीर्थों को 'कल्याणक भूमि' कहते हैं।

(ग) उक्त तीर्थों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी स्थान जैन तीर्थों के रूप में प्रसिद्ध हुए थे जिनमें से कुछ तो आज नाम शेष हो चुके हैं, और कुछ विद्यमान भी हैं। इनकी संक्षिप्त नाम सूचना यह है — (१) प्रभास पाटन - चन्द्रप्रभ, (२) स्तम्भ तीर्थ - स्तम्भन पार्श्वनाथ, (३) भृगुकच्छ अश्वावबोध शकुनिका विहार - मुनिसुव्रत, (४) सूरपार्क (नालासोपारा), (५) शंखपुर- शंखेश्वर पार्श्वनाथ, (६) चारूप - पार्श्वनाथ, (७) तारंगाहिल -अजितनाथ, (८) अर्बुदगिरि (माउण्ट आबू), (९) सत्यपुरीय-महावीर, (१०) स्वर्णगिरि - महावीर, (११) करहेटक-पार्श्वनाथ, (१२) विदिशा (भिलसा), (१३) नासिक्य-चन्द्रप्रभ, (१४) अन्तरिक्ष-पार्श्वनाथ, (१५) कुल्पाक-आदिनाथ, (१६) खण्डगिरि (भुवनेश्वर), (१७) श्रवण बेलगोला इत्यादि अनेक जैन प्राचीन तीर्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें जो विद्यमान हैं, उनमें कुछ तो मौलिक हैं, तथा कतिपय प्राचीन तीर्थों के स्थानापन्न नवनिर्मित जिनचैत्यों के रूप में अवस्थित हैं। तीसरी श्रेणी के जैनतीर्थों को हम पौराणिक तीर्थ कहते हैं। इनका प्राचीन जैन साहित्य में वर्णन न होने पर भी कल्पों, जैन चरित्रग्रन्थों तथा प्राचीन स्तुति, स्तोत्रों में इनकी महिमा गायी गई है।

उक्त तीन वर्गों में से इस लेख में हम प्रथम वर्ग के सूत्रोक्त तीर्थों का ही संक्षेप में निरूपण करेंगे।

* सूत्रोक्त तीर्थ :

आचारांग निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओं में प्राचीन जैनतीर्थों का नाम निर्देश मिलता है।

दंसण नाण चरिते तववेरग्गे य होई उ पसत्या।
जा य तहा ता य तहा सक्सणं बुच्छं सलक्खणओ।।३२९।।

तित्थगराण भगवओ पवयण पावयणि अइसइड्ढीणं।
अभिगमण नमण दरिसण कित्तण संपूअणा थुणणा।।३३०।।

जम्माभिसेय निक्खमण चरण नाणुप्पया य निव्वाणे।
दिय लोअभवण मंदर नंदीसर भोम नगरेसुं।।३३१।।

अट्ठावमुज्जिंते गयग्गपयए य धम्मचक्के य।
पास रहावत्तंग चमरूप्पायं च वंदामि।।३३२।।

अर्थात् दर्शन, सम्यक्त्व—ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य, विनय-विषयक भावनाएँ जिन कारणों से शुद्ध बनती हैं, उनको स्वलक्षणों के साथ कहूँगा ।।३२९।।

तीर्थंकर भगवन्तों के, उनके प्रवचन के, प्रवचन-प्रचारक आचार्यों के, केवल, मनःपर्यव, अवधिज्ञान, वैक्रयादि अतिशय लब्धिधारी मुनियों के सन्मुख जाने, नमस्कार करने, उनका दर्शन करने, उनके गुणों का

कीर्त्तन करने, उनकी अन्न वस्त्रादि से पूजा करने से दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वैराग्य सम्बन्धी गुणों की शुद्धि होती है।।३३०।।

जन्मकल्याणक स्थान, जन्माभिषेक स्थान, दीक्षा स्थान, श्रमणावस्था की विहार भूमि, केवल ज्ञानोत्पत्ति का स्थान, और निर्वाण कल्याणक भूमि को तथा देवलोक असुरादि के भवन, मेरु पर्वत, नन्दीश्वर के चैत्यों और व्यन्तरदेवों के भूमिस्थ नगरों में रही हुई जिनप्रतिमाओं की तथा (१) अष्टापद, (२) उज्जयंत, (३) गजाग्रपद, (४) धर्मचक्र, (५) अहिच्छत्रस्थित पार्श्वनाथ, (६) रथावर्त - पदतीर्थ, (७) चमरोत्पात आदि नामों से प्रसिद्ध जैनतीर्थों में स्थित जिनप्रतिमाओं को मैं वन्दन करता हूँ।

निर्युक्तिकार भगवान् भद्रबाहु स्वामी ने तीर्थंकर भगवन्तों के जन्म, दीक्षा, विहार, ज्ञानोत्पत्ति, निर्वाण आदि के स्थानों को तीर्थ स्वरूप मानकर वहाँ रहे हुए जिनचैत्यों को वंदन किया है। यही नहीं, परन्तु राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, स्थानांग भगवती आदि सूत्रों में वर्णित देव स्थित, असुर-भवन स्थित, मेरुपर्वत स्थित, नन्दीश्वर द्वीप स्थित, और व्यन्तर देवों के भूमि-गर्भ स्थित नगरों में रहे हुए चैत्यों की शाश्वत जिनप्रतिमाओं को भी वन्दन किया है।

निर्युक्ति की गाथा ३३२ वीं में निर्युक्तिकार से तत्कालीन भारतवर्ष में प्रसिद्धि पाये हुए सात अशाश्वत जैन-तीर्थों को वन्दन किया है, जिनमें एक छोड़कर शेष सभी प्राचीन तीर्थ विच्छिन्न हो चुके हैं। फिर भी शास्त्रों तथा भ्रमण वृत्तान्तों में इनका जो वर्णन मिलता है, उनके आधार पर इनका यहाँ संक्षेप में निरूपण किया जायेगा।

*** अष्टापद :**

अष्टापद पर्वत ऋषभदेवकालीन अयोध्या से उत्तर की दिशा में अवस्थित था। भगवान् ऋषभदेव जब कभी अयोध्या की तरफ पधारते तब अष्टापद पर्वत पर ठहरते थे, और अयोध्यावासी राजा-प्रजा उनकी धर्म-सभा में दर्शन वन्दनार्थ तथा धर्म श्रवणार्थ जाते थे। परन्तु वर्तमानकालीन अयोध्या के उत्तर दिशा भाग में ऐसा कोई पर्वत दृष्टिगोचर नहीं होता जिसे अष्टापद माना जा सके। इसके कारण अनेक ज्ञात होते हैं। पहला तो यह है कि उत्तरदिग् विभाग में भारत से लगी हुई पर्वत श्रेणियाँ उस समय में इतनी ठण्डी और हिमाच्छादित नहीं थीं, जितनी आज हैं। दूसरा कारण यह है कि अष्टापद पर्वत के शिखर पर भगवान् ऋषभदेव और उनके गणधर तथा अन्य शिष्यों का निर्वाण होने के बाद देवताओं ने तीन स्तूप और भरत चक्रवर्ती ने सिंहनिषद्या नामक जिनचैत्य बनवाकर उसमें चौवीस तीर्थंकरों की वर्ण-मानोपेत प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करवा कर चैत्य के द्वारों पर लोहमय यान्त्रिक द्वारपाल स्थापित किये थे। इतना ही नहीं, परन्तु पर्वत को चारों ओर से छिलवाकर सामान्य भूमिगोचर मनुष्यों के लिये शिखर पर पहुँचना अशक्य बनवा दिया था। उसकी ऊँचाई के आठ भाग कर क्रमशः आठ मेखलाएँ बनवाई थीं, इसी कारण से पर्वत का अष्टापद यह नाम प्रचलित हुआ था। भगवान् ऋषभदेव के इस निर्वाण स्थान के दुर्गम बन जाने के बाद देव, विद्याधर, विद्याचारण, लब्धिधारी मुनि और जंघाचारण मुनियों के सिवाय अन्य कोई भी दर्शनार्थी अष्टापद पर नहीं जा सकता था; और इसी कारण से भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी धर्म सभा में यह सूचन किया था कि जो मनुष्य अपनी आत्मशक्ति से अष्टापद पर्वत पर पहुँचता है वह इसी भव में संसार से मुक्त होता है।

अष्टापद के अप्राप्य होने का तीसरा कारण यह भी है कि सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने अष्टापद पर्वत स्थित जिनचैत्य स्तूप आदि को अपने पूर्वज वंश्य भरत चक्रवर्ती के स्मारक के चारों तरफ गहरी खाई खुदवाकर उसे गंगा के जलप्रवाह से भरवा दिया था, ऐसा प्राचीन जैन कथासाहित्य में किया गया वर्णन आज भी उपलब्ध होता है।

उपर्युक्त अनेक कारणों से हमारा अष्टापद तीर्थ जिसका निर्देश श्रुत केवली भगवान् भद्रबाहु स्वामी ने अपनी आचारांग निर्युक्ति में सर्वप्रथम किया है, हमारे लिये आज अदर्शनीय और अलभ्य बन चुका है।

आचारांग निर्युक्ति के अतिरिक्त आवश्यक निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओं से भी अष्टापद तीर्थ का विशेष परिचय मिलता है :

अह भगवं भवमहणो पुव्वाणमणूणयं सयसहस्सं।
अणुपुब्वि विहररिऊणं पत्ती अट्ठावयं सेलं।।४३३।।*

अट्ठावयम्मि सेले चउदसभत्तेण सो महरिसीणं।
दसहिं। सहस्सेहि समं निव्वाणमणुत्तरं पत्तो।।४३४।।*

निव्वाणं[१] चिइगागिई जिणस्स इक्खाग-सेसगाणं च।
सकहा ३ थूभ जिणहरे ४ जायग ५ तेणाऽहिअग्गिति।।४३५।।*

तब संसार दुःख का अन्त करने वाले भगवान् ऋषभदेव सम्पूर्ण एक लाख पूर्ववर्षों तक पृथ्वी पर विहार करके अनुक्रम से अष्टापद पर्वत पर पहुँचे, और छः उपवास के तप के अन्त में दस हजार मुनिगण के साथ सर्वोच्च निर्वाण को प्राप्त हुए।।४३३।।४३४।।

भगवान् और उनके शिष्यों के निर्वाणान्तर चतुर्निकायों के देवों ने आकर उनके शवों के अग्नि संस्कारार्थ तीन चिताएँ बनवाईं। पूर्व में गोलाकार चिता तीर्थंकर के शरीर के दाहार्थ, दक्षिण में त्रिकोणाकार चिता इक्ष्वाकुवंश्य गणघरों के तथा महामुनियों के शवदाहार्थ बनवाईं, और पश्चिम दिशा की तरफ चौकोर चिता शेष श्रमणगण के शरीर संस्कारार्थ बनवाई, और तीर्थंकर आदि के शरीर यथास्थान चिताओं पर रखकर अग्निकुमार देवों ने उन्हें अग्नि द्वारा सुलगाया, वायुकुमार देवों ने वायु द्वारा अग्नि को जोश दिया, और चर्म-मांस के जल जाने पर मेघकुमारों ने जलवृष्टि द्वारा चिताओं को ठण्डा किया। तब भगवान् के ऊपरी बांये जबड़े की शक्रेन्द्र ने, दाहिनी तरफ की ईशानेन्द्र ने, तथा निचले जबड़े की बांई तरफ की चमरेन्द्र ने, और दाहिनी तरफ की दाढ़ें बलीन्द्र ने ग्रहण की। इन्द्रों के अतिरिक्त शेष देवों ने भगवान् के शरीर की अन्य अस्थियाँ ग्रहण कर लीं। तब वहाँ उपस्थित राजादि मनुष्यगण ने तीर्थङ्कर तथा मुनियों के शरीर दहन स्थानों की भस्म को भी पवित्र जानकर ग्रहण कर लिया। चिताओं के स्थान पर देवों ने तीन स्तूप बनवाये, और भरत चक्रवर्ती ने चौबीस तीर्थङ्करों की वर्णमानोपेत सपरिकर मुर्तियाँ स्थापित करने योग्य जिनगृह बनवाये। उस समय जिन मनुष्यों की चिताओं से अस्थि, भस्मादि नहीं मिला था, उन्होंने उसकी प्राप्ति

* यह गाथांक - निबन्ध निश्चय की है ।

के लिये देवों से बड़ी नम्रता के साथ याचना की, जिससे इस अवसर्पिणी काल में याचक शब्द प्रचलित हुआ। चिता कुण्डों में अग्नि चयन करने के कारण तीन कुण्डों में अग्नि स्थापन करने का प्रचार चला, और वैसा करने वाले आहिताग्नि कहलाये।

उपर्युक्त सूत्रोक्त वर्णन के अतिरिक्त भी अष्टापद तीर्थ से सम्बन्ध रखने वाले अनेक वृत्तान्त सूत्रों, चरित्रों, तथा (पौराणिक) प्रकीर्णक जैनग्रन्थों में मिलते हैं। परन्तु इन सब के वर्णनों द्वारा विषय को बढ़ाना नहीं चाहते।

8

।। भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ ।।

उत्तराखण्ड जनपद

क्षेत्र– कैलाश (बद्रीनाथ, कैलाश, अष्टापद), श्रीनगर

अष्टापद

बलभद्र जैन

*** निर्वाण क्षेत्र :**

अष्टापद निर्वाण क्षेत्र है ।

'अट्ठावयम्मि रिसहो' यह प्राकृत निर्वाण भक्ति की प्रथम गाथा का प्रथम चरण है। इसका अर्थ यह है कि ऋषभदेव भगवान् अष्टापद पर्वत से मुक्त हुए। अष्टापद दूसरा नाम कैलाश है।

हरिवंश पुराण के कर्ता और आचार्य जिनसेन ने भगवान् ऋषभदेव के मुक्ति-गमन से पूर्व कैलाश पर्वत पर ध्यानारूढ़ होने का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है।

इत्थं कृत्वा समर्थं भवजलधिजलोत्तारणे भावतीर्थं
कल्पान्तस्थायि भूयस्त्रिभुवनहितकृत् क्षेत्रतीर्थं च कर्तुम्।
स्वाभाव्यादारुरोह श्रमणगणसुरवातसम्पूज्यपादः
कैलासाख्यं महर्ध्रि निषधमिव वृषादित्य इद्ध प्रभांढ्यः।।

–हरिवंश पुराण, १२–८०

अर्थात् मुनिगण और देवों से पूजित चरणों के धारक श्री वृषभ जिनेश्वर संसाररूपी सागर के जल से पार करने में समर्थ रत्नत्रय रूप भावतीर्थ का प्रवर्तन कर कल्पान्त काल तक स्थिर रहनेवाले एवं त्रिभुवन जन हितकारी क्षेत्रतीर्थ को प्रवर्तन करने के लिए स्वभावतः कैलाश पर्वत पर इस तरह आरूढ़ हो गये, जिस तरह देदीप्यमान प्रभा का धारक वृष का सूर्य निषाधाचलपर आरूढ़ होता है।

इसके पश्चात् आचार्य ने कैलाशगिरि से भगवान् के मुक्ति-गमन का वर्णन करते हुए लिखा है-

तस्मिन्नद्रौ जिनेन्द्रः स्फटिकमणिशिला जालरम्ये निषपण्णो।
योगानां सन्निरोधं सह दशभिरथो योगिनां यैः सहस्त्रैः।
कृत्वा कृत्वान्तमन्ते चतुरपदमहाकर्मभेदस्य शर्म–
स्थानं स्थानं स सैद्धं समगमदमलस्रग्धराभ्यर्च्यमानः ।।१२।८१

Uttarakhand - Ashtapad Vol. XV Ch. 114-C, Pg. 6695-6707

अर्थात् स्फटिक मणि की शिलाओं से रमणीय उस कैलाश पर्वत पर आरूढ़ होकर भगवान् ने एक हजार राजाओ के साथ यग निरोध किया और अन्त में चार अघातिया कर्मों का अन्त कर निर्मल मालाओं के धारक देवो से पूजित हो अनन्त सुख के स्थानभूत मोक्ष स्थान को प्राप्त किया।

भरत और वृषभसेन आदि गणधरों ने भी कैलाश पर्वत से ही मोक्ष प्राप्त किया-

शैलं वृषभसेनाद्यैः कैलाशमधिरुह्य सः।
शेषकर्मक्षयान्मोक्षमन्ते प्राप्तः सुरैः स्तुतः।।

-हरिवंशपुराण, १३।६

मुनिराज भरत आयु के अन्त में वृषभसेन आदि गणधरों के साथ कैलाश पर्वत पर आरूढ़ हो गये और शेष कर्मों का क्षय करके वहीं से मोक्ष प्राप्त किया।

श्री बाहुबली स्वामी को कैलाश पर्वत से निर्वाण प्राप्त हुआ। इस सम्बन्ध में आचार्य जिनसेन आदिपुराण में उल्लेख करते हैं-

इत्थं स विश्वविद्विश्वं प्रीणयन् स्ववचोऽमृतैः।
कैलासमचलं प्रापत् पूतं संनिधिना गुरोः ।। ३६।२०३

अर्थात् समस्त विश्व के पदार्थों को जाननेवाले बाहुबली अपने वचनरूपी अमृत के द्वारा समस्त संसार को सन्तुष्ट करते हुए पूज्य पिता भगवान् ऋषभदेव के सामीप्य से पवित्र हुए कैलाश पर्वत पर जा पहुँचे।

अयोध्या नगरी के राजा त्रिदशंजय की रानी इन्दुरेखा थी। उनके जितशत्रु नामक पुत्र था। जितशत्रु के साथ पोदनपुर नरेश व्यानन्द की पुत्री विजया का विवाह हुआ था। द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ इन्हीं के कुलदीपक पुत्र थे। भगवान् के पितामह त्रिदशंजय ने मुनि-दीक्षा ले ली और कैलाश पर्वत से मुक्त हुए।

सगर चक्रवर्ती के उत्तराधिकारी भगीरथ नरेश ने कैलाश में जाकर मुनि-दीक्षा ली और गंगा-तट पर तप करके मुक्त[१] हुए।

प्राकृत निर्वाण भक्ति में अष्टापद से निर्वाण प्राप्त करनेवाले कुछ महापुरुषों का नाम-स्मरण करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है। उसमें आचार्य कहते हैं-

णायकुमार मुणिन्दो बाल महाबाल चेव अच्छेया।
अट्ठावयगिरि-सिहरे णिव्वाण गया णमो तेसिं।।१५।।

अर्थात् अष्टापद शिखर से व्याल, महाव्याल, अच्छेद्य, अभेद्य और नागकुमार मुनि मुक्त हुए।

हरिषेण चक्रवर्ती का पुत्र हरिवाहन था। उसने कैलाश पर्वत पर दीक्षा ली और वहीं से निर्वाण प्राप्त किया।

हरिवाहन दुद्धर बहु धरहु। मुनि हरिषेण अंगु तउ चरिउ।।
घातिचउक्क कम्म खऊ कियऊ। केवल णाय उदय तव हयऊ।।
निरु सचराचरु पेखिउ लोउ। पुणि तिणिजाय दियउ निरुजोउ।।
अन्त यालि सन्यास करेय। अट्ठसिद्धि गुणि हियऊ धरेउ।।
सुद्ध समाधि चयेविय पाण। निरुवम सुह पत्तइ निव्वाण।।

-कवि शंकर कृत हरिषेण चरित, ७०७-७०९
(एक जीर्ण गुटकेपर-से-रचना काल १५२६)

---

१. उत्तरपुराण, ४८/१४१

विविध तीर्थकल्प में आचार्य जिनप्रभ सूरि ने 'अष्टापद कल्प' नामक कल्प की रचना की है। उसमें लिखा है- इन्द्र ने अष्टापद पर रत्नत्रय के प्रतीक तीन स्तूप बनाये।

भरत चक्रवर्ती ने यहाँ पर सिंहनिषद्या बनवायीं, जिनमें सिद्ध प्रतिमाएँ विराजमान करायीं। इनके अतिरिक्त उन्होंने चौबीस तीर्थंकारों और अपने भाईयों की प्रतिमाएँ भी विराजमान करायीं। उन्होंने चौबीस तीर्थंकरों और निन्यानवे भाईयों के स्तूप भी बनवाये थे ।

भगवान् ऋषभदेव के मोक्ष जाने पर उनकी चिता देवों ने पूर्व दिशा में बनायी। भगवान् के साथ जो मुनि मोक्ष गये थे, उनमें जो इक्ष्वाकुवांशी थे, उनकी चिता दक्षिण दिशा में तथा शेष मुनियों की चिता पश्चिम दिशा में बनायी गयीं। बादमें तीनों दिशाओं में चिताओं के स्थान पर देवों ने तीन स्तूपों की रचना की।

अनेक जैन ग्रन्थों में उल्लेख मिलता है कि कैलाश पर भरत चक्रवर्ती तथा अन्य अनेक राजाओं ने रत्न प्रतिमाएँ स्थापित करायी थीं। यथा-

कैलाश शिखरे रम्ये यथा भरतचक्रिणा ।
स्थापिताः प्रतिमा वर्ण्या जिनायतनपंवितपु ।।
तथा सूर्यप्रमेणापि...

-हरिषेण कथाकोष, ५६।५

जिस प्रकार मनोहर कैलाश शिखर पर भरत चक्रवर्ती ने जिनालयों की पंक्तियों में नाना वर्णवाली प्रतिमाएँ स्थापित की थीं, उसी प्रकार सूर्यप्रभ नरेश ने मलयगिरि पर स्थापित कीं ।

भरत चक्रवर्ती ने चोवीस तीर्थंकरों की जो रत्न-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की थीं, उनका अस्तित्व कब तक रहा, यह तो स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु इन मन्दिरों और मूर्तियों का अस्तित्व चक्रवर्ती के पश्चात् सहस्राब्दियों तक रहा, इस प्रकार के स्फुट उल्लेख जैन वाङ्मय में हमें यत्र-तत्र मिलते हैं। द्वितीय चक्रवर्ती सगर के साठ हजार पुत्रों ने जब अपने पिता से कुछ कार्य करने की आज्ञा माँगी तब विचार कर चक्रवर्ती बोले-

राज्ञाप्याज्ञापिता यूयं कैलासे भरतेशिना।
गृहाः कृता महारत्नेश्चततुविशतिरर्हताम्।।
तेषां गङ्गां प्रकुर्वीध्यं परिखां परितां गिरिम्।
इति तेऽपि तथाकुर्वन् दण्डरत्नेन सत्त्वरम्।।

-उत्तरपुराण, ४८।१०७-१०८

अर्थात् राजा सगर ने भी आज्ञा दी कि भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत पर महारत्नों से अरहन्तों के चौबीस मन्दिर बनवाये थे। तुम लोग उस पर्वत के चारों ओर गंगा नदी को उन मन्दिरों की परिखा बना दो। उन राजपुत्रों ने भी पिता की आज्ञानुसार दण्डरत्न से वह काम शीघ्र ही कर दिया।

इस घटना के पश्चात् भरत चक्रवर्ती द्वारा कैलाश पर्वत पर बनाये हुए जिन मन्दिरों का उल्लेख वाली मुनि के प्रसंग में आता है। एक बार लंकापति दशानन नित्यालोक नगर के नरेश नित्यालोक की पुत्री रत्नावली से विवाह करके आकाश मार्ग से जा रहा था। किन्तु कैलाश पर्वत के ऊपर से ऊड़ते समय उसका पुष्पक विमान सहसा रुक गया। दशानन ने विमान रुकने का कारण जानना चाहा तो उसके

अमात्य मारीच ने कहा- ''देव! कैलाश पर्वत पर एक मुनिराज प्रतिमा-योग से विराजमान हैं। वे घोर तपस्वी प्रतीत होते हैं। इसीलिए यह विमान उनको अतिक्रमण नहीं कर सका है। दशानन ने उस पर्वत पर उतर मुनिराज के दर्शन किये। किन्तु वह देखते ही पहचान गया कि यह वाली है। उसके साथ अपने पूर्व संघर्ष का स्मरण करके वह बड़े क्रोध में बोला- अरे दुर्बुद्धि ! तू बड़ा तप कर रहा है कि अभिमान से मेरा विमान रोक लिया, मैं तेरे इस अहंकार को अभी नष्ट किये देता हूँ। तू जिस कैलाश पर्वत पर बैठा है, उसे उखाड़ कर तेरे ही साथ अभी समुद्र में फेंकता हूँ।'' यह कहकर दशानन ने ज्योंही अपनी भुजाओं से विद्या-बल की सहायता से कैलाश को उठाना प्रारम्भ किया, मुनिराज वाली ने अवधिज्ञान से दशानन के दस दृष्कृत्य को जान लिया। तब वे विचार करने लगे—

कारितं भरतेनेदं जिनायगतनमूत्तमम्।
सर्वरत्नमयं तुङ्गं बहुरुप विराजितम्।।
प्रत्यहं भक्तिसंयुक्तैः कृतपूजं सुरासुरैः।
मा विनाशि चलत्यस्मिन् पर्वते भिन्न पर्वणि।।

—पद्मपुराण ९।१४७–१४८

अर्थात् भरत चक्रवर्ती ने ये नाना प्रकार के सर्व रत्नमयी ऊँचे-ऊँचे जिनमन्दिर बनवाये हैं। भक्ति से भरे हुए सुर और असुर प्रतिदिन इनकी पूजा करते हैं। अतः इस पर्वत के विचलित हो जानेपर कहीं ये जिनमन्दिर नष्ट न हो जायें।

ऐसा विचार कर मुनिराज ने पर्वत को अपने पैर के अंगूठे से दबा दिया। दशानन दब गया और बुरी तरह रोने लगा। तभी से उसका नाम रावण पड़ गया। तब दयावश उन्होंने अँगूठा ढ़ीला कर दिया और रावण पर्वत के नीचे से निकलकर निरभिमान हो मुनिराज की स्तुति करने लगा । महामुनि वाली घोर तपस्या करके कैलाश से मुक्त हुए।

इस घटना से यह निष्कर्ष निकलता है कि उस काल तक भरत द्वारा निर्मित जिन-मन्दिर विद्यमान थे। किन्तु पंचम काल में ये नष्ट हो गये, इस प्रकार की निश्चित सूचना भविष्यवाणी के रूप में होती हैं-

कैलास पर्वते सन्ति भवनानि जिनेशिनां।
चतुर्विंशति संख्याति कृतानि मणिकाञ्चनैः।।
सुरासुर-नराधीशैर्वन्दितानि दिवानिशम्।
यास्यन्ति दुःषम काले नाशं तस्कारादिभिः।।

—हरिषेण बृहत्कथा, कोष ११९

अर्थात् कैलाश पर्वत पर मणिरत्नों के बने हुए तीर्थंकरों के चौबीस भवन हैं। सुर, असुर और राजा लोग उनकी दिनरात वन्दना करते रहते हैं। दुःषम (पंचम) काल में तस्कार आदि के द्वारा वे नष्ट हो जायेंगे।

जैन पुराण-ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि चतुर्थ काल में कैलाश यात्रा का बहुत रिवाज था। विद्याधर विमानों द्वारा कैलाश की यात्रा को जाते रहते थे। अंजना और पवनंजय का विवाह सम्बन्ध कैलाश की यात्रा के समय ही हुआ था। पवनंजय के पिता राजा प्रह्लाद और अंजना के पिता राजा महेन्द्र दोनों ही

फाल्गुनी अष्टाह्निका में कैलाश की वन्दना के लिए गये थे। वहीं पर दोनों मित्रों ने अपने पुत्र और पुत्रीका सम्बन्ध कर विवाह कर दिया।

विद्याधरों की कैलाश-यात्रा के ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख जैन पुराण साहित्य में उपलब्ध होता हैं:

*** कैलाश की स्थिति :**

कैलाश की आकृति ऐसे लिंगाकार की है जो षोडश दलवाले कमल के मध्य खड़ा हो। उन सोलह दलवाले शिखरों में सामने के दो श्रृंग झुककर लम्बे हो गये हैं। इसी भाग से कैलाश का जल गौरी कुण्ड में गिरता है।

कैलाश इन पर्वतों में सबसे ऊँचा है । उसका रंग कसोटी के ठोस पत्थर जैसा है। किन्तु बर्फ में ढके रहेने के कारण वह रजत वर्ण प्रतीत होता है। दूसरे श्रृंग कच्चे लाल मटमेले पत्थर के हैं। कैलाश के शिखर की ऊँचाई, समुद्र तल से १९००० फुट है। इसकी चढ़ाई डेढ़ मील की है जो कि बहुत ही कठिन है ।

कैलाश की ओर ध्यान पूर्वक देखने से एक आश्चर्यजनक बात दृष्टि में आती है। वह यह है कि कैलाश के शिखर के चारों कोनों में ऐसी मन्दिराकृति स्वतः बनी हुई हैं, जैसे बहुत से मन्दिरों के शिखरों पर चारों ओर बनी होती हैं।

तिब्बत की ओर से यह पर्वत ढ़लानवाला है। उधर तिब्बतियों के बहुत मन्दिर बने हुए हैं। बहुत से तिब्बती तो इसकी बत्तीस मील की परिक्रमा दण्डवत् प्रणिपात द्वारा लगाते हैं। 'लिंग-पूजा' शब्द का प्रचलन तिब्बत से ही प्रारम्भ हुआ है। तिब्बती भाषा में लिंग का अर्थ क्षेत्र[१] या तीर्थ है। अतः लिंग-पूजा का अर्थ तीर्थ-पूजा हुआ।

*** कैलाश और अष्टापद :**

प्राकृत निर्वाण भक्ति में 'अट्ठावयम्मि रिसहो 'अर्थात् ऋषभदेव की निर्वाण भूमि अष्टापद बतलायी गयी है। किन्तु कहीं 'कैलाशे वृषभस्य निर्वृत्तिमही' अर्थात् कैलाश को ही ऋषभदेव की निर्वाण भूमि माना है। संस्कृत निर्वाण भक्ति में भी अष्टापद के स्थान पर कैलाश को ही ऋषभदेव का निर्वाण धाम माना गया है। (कैलाशशैलशिखरे परिनिर्वृतोऽसौ । शैलोशिभावमुपपद्य वृषो महात्मा ।।) निर्वाण-क्षेत्रों का नामोल्लेख करते हुए संस्कृत निर्वाण काण्ड में एक स्थान पर कहा गया है- 'सहयाचले च हिमवत्यपि सुप्रतिष्ठे।' इसमें सम्पूर्ण हिमवान् पर्वत को ही सिद्धक्षेत्र माना गया है।

यहाँ विचारणीय यह है कि क्या कैलाश और अष्टापद पर्यायवाची शब्द हैं? यह भी अवश्य विचारणीय है कि कैलाश अथवा अष्टापद को निर्वाण क्षेत्र मान लेने के पश्चात् हिमालय पर्वत को निर्वाण भूमि माना गया तो उसमें कैलाश नामक पर्वत तो स्वयं अन्तर्भूत था, फिर कैलाश को पृथक् निर्वाण क्षेत्र क्यों माना गया? इस प्रकार के प्रश्नों का समाधान पाये बिना उपर्युक्त आर्ष कथनों में सामंजस्य नहीं हो पाता।

पहले प्रश्न का समाधान हमें विविध तीर्थकल्प (अष्टापद गिरि कल्प ४९) में मिल जाता है। उसमें लिखा है—

---

१. It may be mentioned here that Linga is a Tibetan word for land. The Northern most district of Bengal is called Dorjiling, which means Thunder's land. - S.K.Roy (Pre-Historic India and Ancient Egypt, pg. 28).

''तीसे (अउज्झा) अ उत्तरदिसाभाए वारसाजोअणेसुं अट्ठावओ नाम कैलासापरभिहाणो रम्भो नगवरो अट्ठजोअणुच्ची सच्छफालिहसिलामओ, इत्तुच्चिअलोगे धवलगिरित्ति पसिद्धो।''

अर्थात् अयोध्या के उत्तर दिशा भाग में बारह योजन दूर अष्टापद नामक सुरम्य पर्वत है, जिसका दूसरा नाम कैलाश है। यह आठ योजन ऊँचा है और निर्मल स्फटिक शिलाओं से युक्त है। यह लोक में धवलगिरि के नाम से भी प्रसिद्ध है।

इस उल्लेख से यह सिद्ध हो जाता है कि अष्टापद, कैलाश और धवलगिरि ये सब समानार्थक और पर्यायवाची हैं।

इससे पहले प्रश्न का उत्तर तो मिल जाता है कि अष्टापद और कैलाश पर्यायवाची हैं, किन्तु शेष प्रश्नों का उत्तर खोजना शेष रह जाता है। सम्पूर्ण हिमालय को सिद्ध क्षेत्र मान लेने पर अष्टापद और कैलाश का पृथक् सिद्धक्षेत्र के रूप में उल्लेख करने की क्या संगति हो सकती है ? किन्तु गहराई से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अष्टापद और कैलाश हिमवान् या हिमालय के नामान्तर मात्र हैं । धवलगिरि शब्द से इस बातका समर्थन हो जाता है । हिमालय हिम के कारण धवल है, इसलिए वह धवलगिरि भी कहलाता है । अतः धवलगिरि के समान हिमालय को भी अष्टापद और कैलाश का पर्यायवाची समझ लेना चाहिए।

इस मान्यता को स्वीकार कर लेने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि कैलाश या अष्टापद कहने पर हिमालय में भागीरथी, अलकनन्दा और गंगा के तटवर्ती बदरीनाथ आदि से लेकर कैलाश नामक पर्वत तक का समस्त पर्वत प्रदेश आ जाता है। इसमें आजकल के ऋषिकेश, जोशीमठ, बदरीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री, जमनोत्री और मुख्य कैलाश सम्मिलित हैं। यह पर्वत प्रदेश अष्टापद भी कहलाता था; क्योंकि इस प्रदेश में पर्वतों की जो शृँखला फैली हुई है, उसके बड़े-बड़े और मुख्य आठ पद हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं- कैलाश, गौरीशंकर, द्रोणगिरि, नन्दा, नर, नारायण, बदरीनाथ और त्रिशूली।

जैन पुराणों से ज्ञात होता है कि जब ऋषभदेव राज्यभार संभाल ने योग्य हुए, तो महाराज नाभिराज ने उनका राज्याभिषेक कर दिया। (आदिपुराण १६।२२४)। जब ऋषभदेव नीलांजना अप्सरा की आकस्मिक मृत्यु के कारण संसार, शरीर और भोगों से विरक्त हो गये और दीक्षा ली, उस समय भी महाराज नाभिराय और रानी मरुदेवी अन्य लोगों के साथ तप कल्याणक का उत्सव देखने के लिए पालकी के पीछे रहे थे। (आदिपुराण १७।१७८)। वन में पहुँचने पर ऋषभदेव ने माता-पिता और बन्धु-जनों से आज्ञा लेकर श्रमण-दीक्षा ले ली। (पद्मपुराण ३।२८२)। इन अवतरणों से यह तो स्पष्ट है कि तीर्थंकर ऋषभदेव के दीक्षा महोत्सव के समय उनके माता-पिता विद्यमान थे। किन्तु इसके बाद वे दोनों कितने दिन जीवित रहे अथवा उन्होंने अपना शेष जीवन किस प्रकार और कहाँ व्यतीत किया, इसके सम्बन्ध में जैन साहित्य में अभी तक कोई स्पष्ट उल्लेख हमारे देखने में नहीं आया। किन्तु इस विषय में हिन्दु पुराण 'श्रीमद्भागवत' में महर्षि शुकदेव ने जो विवरण प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। महर्षि लिखते हैं-

''विदितानुरागमापौर प्रकृति जनपदो राजा नाभिरात्मजं समयसेतु रक्षायामभिषिच्य सह मरुदेव्या विशालायां प्रसन्न निपुणेन तपसा समाधियोगेन... महिमानमवाप।'' **-श्रीमद्भागवत ५।४।५**

इसका आशय यह है कि जनता भगवान् ऋषभदेव को अत्यन्त प्रेम करती थी और उनमें श्रद्धा रखती थी। यह देखकर राजा नाभिराय धर्ममर्यादा की रक्षा करने के लिए अपने पुत्र ऋषभदेव का राज्याभिषेक

करके विशाल (बदरिकाश्रम) में मरुदेवी सहित प्रसन्न मन से घोर तप करते हुए यथाकाल जीवन्मुक्ति को प्राप्त हुए।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि बदरिकाश्रम (जिसे बदरी विशाल या विशाला भी कहते हैं) में नाभिराज जीवनमुक्त हुए। इस कारण यह स्थान तीर्थधाम बना। जहाँ माता मरुदेवी ने तपस्या की थी, वहाँ लोगों ने मन्दिर बनाकर उनके प्रति अपनी भक्ति प्रगट की। वह मन्दिर माणागाँव के निकट है। यह भारतीय सीमा पर अन्तिम भारतीय गाँव है। अलकनन्दा के उस पार माणगाँव है और इस पर माता का मन्दिर है। सम्भवतः जिस स्थान पर बैठकर नाभिराज ने जीवनमुक्ति प्राप्त की थी, उस स्थान पर उनके चरण स्थापित कर दिये गये। ये चरण बदरीनाथ मन्दिर के पीछे पर्वत पर बने हुए हैं। उनके निकट ही भगवान् ऋषभदेव के एक विशाल मन्दिर का भी निर्माण किया गया। यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि यहाँ पर प्रथम चक्रवर्ती भरत ने यह मन्दिर बनवाया था। उन्होंने कैलाश पर्वत पर जो ७२ स्वर्ण मन्दिर निर्मित कराये थे, बदरी विशाल का मन्दिर उनमें-से एक था। बदरी नामक छोटी झाड़ियाँ ही यहाँ मिलती हैं। यहाँ प्राचीन काल में मुनिजन तपस्या किया करते थे। इस कारण यहाँ मुनियों का आश्रम भी रहा होगा। अतः इसे बदरिकाश्रम कहने लगे और यहाँ के मूलनायक भगवान् को बदरीनाथ कहने लगे। आज भी यहाँ मन्दिर और ऋषभदेव की मूर्ति विद्यमान है। इन सब कारणों से स्पष्टतः यह जैनतीर्थ है।

सम्राट भरत ने ये मन्दिर एक ही स्थान पर नहीं बनवाये थे, अपितु वे उस विस्तीर्ण पर्वत प्रदेश के उन स्थानों पर बनवाये गये, जहाँ मुनियों ने तपस्या की अथवा जहाँ से उन्हें मुक्ति-लाभ हुआ।

9

।। मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म ।।

हीरालाल दुग्गड

प्रास्ताविक :

मध्य एशिया और पंजाब में जैन धर्म — हीरालाल दुग्गड द्वारा लिखित यह पुस्तक सात अध्यायों में विभाजित है। जिसमें जैनधर्म की प्राचीनता जैन, साहित्य, जैन धर्म के प्रमुख संप्रदाय और पंजाब में उस समय जैन धर्म की परिस्थिति का विस्तृत वर्णन मिलता है।

ग्रन्थ का प्रथम अध्याय-जैन धर्म की प्राचीनता और लोकमत है। उसमें कैलाश पर्वत को ही अष्टापद मानकर उसका वर्णन किया गया है। जिसका अंश यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

इस अंश में ऋषभदेव और शिव एक ही हैं। यह बात विभिन्न दृष्टि पूर्वक समझाने का प्रयन्त किया गया है। उसमें से अष्टापद के साथ संबन्धित अंश यहाँ प्रस्तुत किये हैं।

(१) कैलाश - अष्टापद पर्वत

श्री ऋषभदेव ने कैलाश (अष्टापद) पर्वत पर जाकर अनशनपूर्वक निर्वाण (शिवपद) प्राप्त किया था। शिव का धाम तथा तपस्या स्थान भी कैलाश माना जाता है ।

(२) नासाग्रदृष्टि - शिव को भी नासाग्रदृष्टि है । योगीश्वर ऋषभदेव ध्यानावस्था में सदा नासाग्रदृष्टि रखते थे ।

(३) पद्मासनासीन- श्री ऋषभदेव ने कैलाश (अष्टापद) पर्वत पर पद्मासन से ध्यानारूढ़ होकर शुक्लध्यान से मोक्ष प्राप्त किया । शिव भी पद्मासन में बैठे हुए दिखलाई पड़ते हैं ।

(४) शिवरात्रि - श्री ऋषभदेव ने माघ कृष्णा त्रयोदशी की रात्रि को कैलाश (अष्टापद) पर्वत पर निर्वाण (मोक्ष) पद प्राप्त किया था । कैलाश पर्वत तिब्बत की पहाड़ियों पर स्थित है । लिंगपूजा का शब्द तिब्बत से ही प्रारम्भ हुआ है । तिब्बती भाषा में लिंग का अर्थ इन्द्र द्वारा स्थापित तीर्थ अथवा क्षेत्र है ।[१] अतः लिंगपूजा का पर्व तिब्बती भाषा में तीर्थ या क्षेत्र पूजा[२] है । जैनागमों के अनुसार श्री ऋषभदेव के कैलाश पर्वत पर निर्वाण होने से नरेन्द्र (चक्रवर्ती भरत) तथा देवेन्द्रों द्वारा यहाँ आकर उनके पार्थिव शरीर का दाह संस्कार किया था, और उनकी चिता स्थानों पर देवेन्द्रों ने तीन स्तूपों का निर्माण

१. जैनाचार्य जिनप्रभसूरि ने अपने विविध तीर्थकल्प में कई जैन तीर्थों का लिंग के नाम से उल्लेख किया है। यथा सिंहपुरे पातालिंगाभिधः श्री नेमिनाथः। अर्थात् पंजाब में सिंहपुर में पाताल लिंग (इन्द्र द्वारा निर्मित तीर्थक्षेत्र) नाम का नेमिनाथ का महातीर्थ है। (विविध तीर्थकल्प पृ. ८६ चतुरशिति महातीर्थनाम कल्प।)

२. It may be mentioned that linga is Tibetian word of Land.

Ashtapad Parvat Vol. II Ch. 9-B, Pg. 434-437

किया, तथा चक्रवर्ती भरत ने उन स्तूपों के समीपस्थ क्षेत्र में श्री ऋषभदेव से लेकर वर्धमान महावीर तक चौबीस तीर्थङ्करो की उन तीर्थङ्करों को शरीर तथा वर्ण के अनुरूप रत्नोंमयी प्रतिमाओं वाले जिनमन्दिर का निर्माण कराया था । इस प्रकार नरेन्द्र और देवेन्द्रों द्वारा इस तीर्थ की स्थापना हुई । तभी से (गुजराती) माघ वदि १३ को ऋषभदेव की निर्वाण रात्रि को देवों, दानवों, मानवों, देवेन्द्रों, नरेन्द्रों ने मिलकर प्रभु ऋषभदेव के निर्वाण कल्याणक की पूजा करके महाशिवरात्रि का पर्व मनाया, जो आजतक चालु है । कोई शिवलिंग के उदय (तीर्थ स्थापना) की तिथि माघ वदि १४ मानते हैं । इसका आशय यह प्रतीत होता है कि श्री ऋषभदेव के निर्वाण के दूसरे दिन वहाँ जिनमन्दिर और स्तूपों की नींव रखकर तीर्थक्षेत्र की स्थापना की होगी । इसलिए महाशिवरात्री माघ वदि १३ की तथा तीर्थ स्थापना (शिवलिंग का अवतार) माघ वदि १४ की मान्यता चालु हुई । भरत चक्रवर्ती ने जिस जिनमन्दिर का निर्माण कराया था उसका नाम सिंहनिषद्या रख दिया । सिंहनिषद्या के निर्माण के बाद भरत चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत को कारीगरों द्वारा तराश करवाकर एकदम सीधी बहुत ऊँची-ऊँची आठ सीढ़ियों के रूप में परिवर्तित कर दिया । ताकि दुष्ट लोग तथा मतांध लोग इसे हानि न पहुँचा सकें । तबसे इस पर्वत का नाम अष्टापद (आठ सीढ़ियों वाला) प्रसिद्ध हुआ । दक्षिण भारत तथा गुजरात सौराष्ट्र में वहाँ की माघ वदि १३ को शिवरात्रि मनाई जाती है । उत्तर भारत में फाल्गुण कृष्णा (वदि) त्रयोदशी को मनाई जाती है । यह अन्तर दक्षिण और उत्तर भारत के पँचांगों के अन्तर के कारण मालूम होता है । परन्तु वास्तव में दोनों में एक ही रात्रि आति है जिस रात्रि को यह पर्व मनाया जाता है । **('कालमाघवीयनागर खण्ड')** इस अन्तर पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डालता है। जो इस प्रकार है ...

"माघस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च ।
कृष्णा त्रयोदशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तितः ।।"

अर्थात्... दक्षिण (गुजरात सौराष्ट्र आदि) भारत वालों के माघ मास के उत्तर पक्ष की तथा उत्तर भारत वालों के फाल्गुन मास के प्रथम पक्ष की कृष्णा त्रयोदशी को शिवरात्रि कही है । यानी उत्तर भारतवाले मास का प्रारम्भ कृष्ण पक्ष से मानते हैं और दक्षिण एवं पश्चिम भारत वाले मास का प्रारम्भ शुक्ल पक्ष से मानते है । पश्चात् जो कृष्ण पक्ष आता है वह दक्षिण व पश्चिम भारत वालों का माघ मास का कृष्ण पक्ष होता है और वही पक्ष उत्तर भारत वालों का फाल्गुन मास का कृष्ण पक्ष होता है । इसलिए गुजराती माघ कृष्णा त्रयोदशी को ही उत्तर भारत की फाल्गुन कृष्णा-त्रयोदशी को श्री ऋषभदेव का निर्वाण होने के कारण उसी वर्ष की रात्रि से प्रारम्भ होकर आज तक उत्तर भारत की फाल्गुन वदी त्रयोदशी की रात्रि को ही महाशिवरात्रि पर्व मानने की प्रथा चली आ रही है । इसलिए इस पर्व का सम्बन्ध श्रीऋषभदेव के निर्वाण के साथ ही है । ऐसा कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है । शिवोपासक शैव भी इसी रात्रि को शिवलिंग की उपासना करते हैं । इससे भी ऋषभ और शिव एक ही व्यक्ति सिद्ध होते हैं ।

* अष्टापद यानि कैलाश पर्वत :

प्राचीन समय से यह खोज अब तक हो रही है कि तीर्थ अष्टापद यानि कैलाश पर्वत हिमालय में कौन सी जगह है । यज्ञा शास्त्रों में पूर्वाचार्यों ने ज्ञान रूपी विचारों से और जानकारों ने भी ऐसा लिखा है कि यह कैलाश पर्वत हिमालय में है । जहाँ से गंगा आती है और भगवान् शिव या शंकर कैलाशपति के स्थान की जगह है, जिसका पूरा पता नहीं लग सका है । जैन ग्रन्थों में इस पर्वत का स्थान अयोध्या की उत्तर दिशा में है जिसको हिम-प्रदेश बतलाया गया है । जैन ग्रन्थों में इस पर्वत का नाम अष्टापद

तीर्थ कहा गया है। मुनि श्री जयन्तविजयजी ने भी अपने एक गुजराती ग्रन्थ में, जिसका नाम ''पूर्व भारतनी जैन तीर्थ भूमिओ'' में बतलाया है कि प्राचीन जैन ग्रन्थों में कैलाश के नाम से अष्टापद तीर्थ है ।

अब इस पर्वत की खोज करने वाली पार्टी ने पता लगाया है कि यह पर्वत हिमालय के बीच शिखरमाला में स्थित है । उत्तर भारत के अलमोड़ा शहर से यह लगभग २५० मील दूर तिब्बत प्रदेश में है । भारत की सीमा इस पर्वत से लगभग ४०-४५ मील पर है । यह पर्वत प्राकृतिक नहीं है बल्कि किसी ने इसे काट कर तराश करके बनाया है - ऐसा मालूम पड़ता है । प्राकृतिक पर्वत उतराई - चढ़ाई व ढ़लानों वाले होते हैं । जिनमें कुदरती लहरें आदि होती है । लेकिन यह पर्वत ऐसा नहीं है । अपनी शृँखला में सबसे ऊँचा है । वह कैलाश पर्वत दूर से देखने पर चारों दिशाओं से एक जैसा ही दिखाई देता है । इसके चारों ओर खंदक हैं । पर्वत नीचे की तरफ चारों ओर की गोलाई में चौकोना सा और ऊपर का भाग गोल है । इस पर्वत की चोटी निचले भाग से चार, पाँच हजार फूट ऊँची होगी । समुद्र तल से ऊँचाई २३ हजार फूट है ।

इस पर्वत की बनावट ऐसी लगती है जैसे समोसरण की रचना की हुई है । चारों ओर की खंदक में चौबीसों घंटे रूई की तरह बरफ गिरती रहती है । पर्वत चारों ओर बरफ से ढ़का हुआ है । पहाड़ों पर चढ़नेवाले लोग इसके नज़ीदक नहीं जा सकते । जो जाते हैं उन्हें चार मील दूर रुककर ही इस दृश्य को देखना पड़ता है । चढ़ना अत्यन्त कठिन है क्योंकि चोटी गोल गुम्बज के समान है और हिमाच्छादित है ।

शिखर के बीचोंबीच कलश के समान बरफ़ में ढ़का हुआ टीला सा दिखलाई देता है और अधिक ऊँचाई पर सुनहरी चमक सी भी दिखलाई देती है । इसकी परिक्रमा ४० मील घेरे की है ।

इस पर्वत को कोई कैलाश या शंकरजी का स्थान कहते हैं । तिब्बती लोग इसे काँगरिक चीन या बुद्ध का निर्वाण स्थान कहते हैं । इस पर्वत की दक्षिण दिशा में सोना व उत्तर दिशा में चाँदी की खानें हैं । गरम पानी के झरने भी काफी हैं ।

अलमोड़ा से पैदल चलना पड़ता है । पहुँचने में २५ दिन लगते हैं । इस पर्वत के २० मील दक्षिण में मानसरोवर झील है । इस झील की लम्बाई व चौड़ाई २०-२० मील है । थोड़ी ही दूरी पर ''रक्ष'' झील है जो उत्तर-दक्षिण २० मील व पूर्व-पश्चिम ६-७ मील है । मानसरोवर का पानी बहुत ही निर्मल हैं तथा ४०० फूट गहरा हैं । जब हवाओं की गति मध्यम होती है तथा लहरें उठनी बन्द हो जाती हैं, तब झील के पानी में नीचे की जमीन का भाग दिखाई देता है । इस झील पर हंस आदि पक्षी काफी संख्या में आते जाते रहते हैं । यहाँ जैन मुनि स्वामी प्रणवानन्द दो-दो साल तक रहकर आए थे और उन्होंने अपनी पुस्तक 'कैलाश एक मानसरोवर'' पृष्ठ १० पर इसका माहात्म्य लिखा है ।

कैलाश (अष्टापद) पर्वत तिब्बत की पहाड़ियों पर स्थित है । इसलिए लिंगपूजा का शब्द तिब्बत से ही प्रारम्भ हुआ है। तिब्बती लोग इस पर्वत की बड़ी श्रद्धा से पूजा करते हैं।

10

।। आदिनाथ ऋषभदेव और अष्टापद ।।

व्याप्त व्यक्तित्व : अखण्ड कृतित्व

लता बोथरा

तीर्थों की श्रेणी में सबसे प्राचीन शाश्वत तीर्थ अष्टापद है जो प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की निर्वाण भूमि है। ऋषभदेव को आदिनाथ भी कहा जाता है।

'आदिमं पृथिवीनाथं आदिमं निष्परिग्रहम् ।
आदिमं तीर्थनाथं च ऋषभस्वामिनं स्तुमः' ।।

जो इस अवसर्पिणी काल में पहले ही राजा, पहले ही त्यागी मुनि, पहले ही तीर्थंकर हुए उन ऋषभदेव स्वामी की हम स्तुति करते हैं।

(We pay homage to Rishabhdev who was the first king, first ascetic, first Tirthankara in this Avasarpini Era. Rishabhdev, as the founder of Civilization preached a religion, started the culture & showed the path of liberation). ऋषभदेव की मान्यता सिर्फ जैन ग्रन्थों में ही नहीं, जैनेतर ग्रन्थों में भी व्यापकरूप से मिलती है। इस सन्दर्भ में श्री वी. जी. नायर ने लिखा है : "Adi Bhagwan was the organiser of human society and the originator of human culture and civilization. He lived in the days of hoary antiquity. Adi Bhagwan was the first monarch, ruler, ascetic, saint, sage, omniscient teacher, law maker and architect of humanism, and humanitarianism."

''नित्यानुभूत निजलाभ निवृत्ततृष्णः
श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धेः
लोकस्य यः करुणयामयमात्मलोक
माख्यान्न भो भगवते ऋषभाय तस्मै।''

- भागवत् पुराण

निरन्तर विषय भोगों की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध हुए लोगों को जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्मलोक का संदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति के कारण सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार हो।

Rishabhdev & Ashtapad Vol. VII Ch. 45-1, Pg. 2984-2999

भगवतपुराण का यह श्लोक ऋषभ संस्कृति को दर्शाता है साथ ही उनके अति प्राचीन होने का भी संदेश देता है। ऋषभदेव को सिर्फ जैन परम्परा ही नहीं वरन् वैदिक परम्परा भी उनको शलाका पुरुष मानती है। वेदों और पुराणों में उनके उल्लेख इसकी निश्चित तौर पर पुष्टि करते हैं और अनेकों साहित्यिक प्रमाण इस विषय में आज भी उपलब्ध हैं। ऋग्वेद व अथर्ववेद में ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनमें ऋषभदेव की स्तुति अहिंसक, आत्मसाधकों में प्रथम, अवधूत चर्या के प्रणेता तथा मर्त्यों में सर्वप्रथम अमरत्व अथवा महादेवत्व पाने वाले महापुरुष के रूप में की गई है। एक स्थान पर उन्हें ज्ञान का आगार तथा दुःखों व शत्रुओं का विध्वंसक बताते हुए कहा गया है :

''असूतपूर्वां वृषभो ज्यायनिभा अस्य शुरुघः सन्तिपूर्वीः।
दिवो न पाता विदथस्यधीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवोदधाथे।।''

-ऋग्वेद, ५-३८

जिस प्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है और जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक वृषभ महान् हैं। उनका शासन वरद है। उनके शासन में ऋषि-परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के क्रोधादि शत्रुओं का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और शुद्ध) आत्माएँ अपने ही आत्मगुणों में चमकती हैं; अतः वे ही राजा हैं, वे पूर्ण ज्ञान के आगार हैं और आत्म-पतन नहीं होने देते।

ऋग्वेद के एक दूसरे मन्त्र में उपदेश और वाणी की पूजनीयता तथा शक्ति सम्पन्नता के साथ उन्हें मनुष्यों और देवों में पूर्वयावा माना गया है :

''मखस्य ते तीवषस्य प्रजूतिमियर्भिं वाचमृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितीमामास मानुषीणां विशां दैवी नामुत पूर्वयावा।।''

-ऋग्वेद, २।३४।२

अर्थात् - हे आत्मदृष्टा प्रभो! परम् सुख पाने के लिये मैं तेरी शरण में आता हूँ, क्योंकि तेरा उपदेश और वाणी पूज्य और शक्तिशाली हैं। उनको अब मैं धारण करता हूँ। हे प्रभो ! सभी मनुष्यों और देवों में तुम्हीं पहले पूर्वयावा (पूर्वगत् ज्ञान के प्रतिपादक) हो।

यजुर्वेद में लिखा है-

वेदाहमेतं पुरूषं महान्तमादित्यवर्ण तमसः पुरस्तात्।
तमेव निदित्वाति मृत्युमेति नान्य पंथा विद्यतेऽयनाय।।

यजुर्वेद अ.३१, मंत्र ८

मैंने उस महापुरुष को जाना है, जो सूर्य के समान तेजस्वी, अज्ञानादि अन्धकार से दूर है। उसी को जानकर मृत्यु से पार हुआ जा सकता है, मुक्ति के लिए अन्य कोई मार्ग नहीं है।

'ॐ नमोऽर्हन्तो ऋषभो' (यजुर्वेद)

अर्थात् - अर्हन्त नाम वाले (वा) पूज्य ऋषभदेव को प्रणाम हो।

''ॐ ऋषभंपवित्रं पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्नं परमं माहसंस्तुतं वारं शत्रुंजयंतं पुशुरिंद्रमाहुरिति स्वाहा। उत्रातारमिद्रं ऋषभंवदंति अमृतारमिन्द्रहवे सुगतं सुपार्श्वमिन्द्रंहवे शकमजितं तदूर्द्धमान पुरुहूतमिंद्रमाहुरिति

स्वाहा। ॐ स्वस्तिनः इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषा विश्ववेदाः स्वस्तिनस्तार्क्षोअरिष्टनेमिः स्वस्तिनो बृहस्पतिर्दधातु। दीर्घायुस्त्वायवलायुर्वाशुभजातायु ॐ रक्षरक्षअरिष्टनेमि स्वाहा वामदेव सांत्यर्थ मनुविधीयते सोऽस्माक अरिष्टनेमि स्वाहा।'' - यजुर्वेद

अर्थ- ऋषभदेव पवित्र को और इन्द्ररूपी अध्वर को यज्ञों में नग्न को, पशु वैरी के जीतने वाले इंद्र को आहुति देता हूँ। रक्षा करने वाले परम ऐश्वर्ययुक्त और अमृत और सुगत सुपार्श्व भगवान् जिस ऐसे पुरुहुत (इन्द्र) को ऋषभदेव तथा वर्द्धमान कहते हैं उसे हवि देता हूँ। वृद्धश्रवा (बहुत धनवाला) इन्द्र कल्याण करे, और विश्ववेदा सूर्य हमें कल्याण करे, तथा अरिष्टनेमि हमें कल्याण करे और बृहस्पति हमारा कल्याण करे। (यजुर्वेद अध्याय २५ मं. १९) दीर्घायु को और बल को और शुभ मंगल को दे। और हे अरिष्टनेमि महाराज ! हमारी रक्षा करे वामदेव शान्ति के लिये जिसे हम विधान करते हैं वह हमारा अरिष्टनेमि है, उसे हवि देते हैं।

अथर्ववेद में ऋषभ को भवसागर से पार उतारने वाला कहकर उसकी स्तुति की गई है—

''अंहो मुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वरणाम्।
अपां न पातमश्विना हुवेधिय इन्द्रियेण तमिन्द्रियं।''

पापों से मुक्त पूज्य देवताओं और सर्वश्रेष्ठ आत्म साधकों में सर्वप्रथम भवसागर के पोतकों में हृदय से पुकारता हूँ। हे सहचर बन्धुओ ! उस सर्वश्रेष्ठ वृषभ को तुम पूर्ण श्रद्धा द्वारा उसके आत्मबल और उसके तेज को धारण करो क्योंकि वह भवसमुद्र से पार उतारेगा।

-दत्तभोज/अथर्ववेद १९.४२.४

ऋग्वेद में भगवान् ऋषभदेव को अनन्तचतुष्ट्य का धारी प्रतिपादित किया है—

चत्वारी श्रृंगात्रयो अस्य पादा, दै शीर्ष सप्त हस्तासौ अस्य
त्रिधा बद्धो वृषभो शेरणीति, महादेवी मत्यनिविवेद।

- ऋग्वेद ४.५८.३

अर्थ- ऋषभदेव के अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य रूप चार शृँग हैं। उनके सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूपी पद (चरण) हैं। उच्चासन अर्थात् केवल ज्ञान एवं मुक्ति रूपी दो शीर्ष हैं। सप्तभंगी रूप सात हाथ हैं। मन वचन कार्यरूपी तीन योगों से बंधकर जीव संसारी हो जाता है और इन तीनों का निरोधकर तपस्या कर यह आत्मा परमात्मा बन जाता है।

आगे पुनः स्तुति करते हुए कहते हैं—

'एवं वभ्रो वृषभ चेकिस्तान यथा हेक न हर्षीषेन हन्ति।'

हे शुद्ध, दीप्तिमान सर्वज्ञ वृषभ ! हमारे ऊपर ऐसी कृपा करो कि हम जल्दी नष्ट न हों और न किसी को नष्ट करें।

कल्याण के संत अंक में लिखा है- 'परम भगवत भक्त राजर्षि भरत; भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्रों में सबसे बड़े थे। उन्होंने पिता की आज्ञा से राज्यभार स्वीकार किया था। उन्हीं के नाम पर इस देश का नाम **भारत वर्ष** या **भरत खण्ड** कहलाया।'

-कल्याण का संत अंक, प्रथम खण्ड वर्ष १२, पृ.२७६

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती ने (गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित) अपने ग्रन्थ की टीका में लिखा है- **''ऋषभदेव को पुराणों में भगवान् वासुदेव का अंश कहा है, और ऋषभदेव का अवतार माना है**

इसका क्या प्रयोजन है? यह स्पष्ट करते हुए स्वामी जी ने लिखा है (मोक्षमार्ग विवक्षया अवतीर्णम्) अर्थात् मोक्षमार्ग का उपदेश देने के लिये ऋषभदेव ने अवतार लिया था। संसार की लीला दिखाने के लिए नहीं। भगवान् ऋषभदेव ने जिस ज्ञानधारा का उपदेश दिया, उसे उपनिषद में परा-विद्या अर्थात् श्रेष्ठ विद्या माना गया है।''

हिन्दुओं के प्रसिद्ध योगशास्त्र ग्रन्थ **हठयोग प्रदीपिका** में मंगलाचरण करते हुए लेखक ने भगवान् आदिनाथ की स्तुति की है—

''श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्मै, येनोपदिष्टा हठयोग विद्या।
विभ्राजते प्रोन्नतराज योग, मारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।।''

श्री आदिनाथ को नमस्कार हो। जिन्होंने उस हठयोग विद्या का, सर्वप्रथम उपदेश दिया, जोकि बहुत ऊँचे, राजयोग पर आरोहण करने के लिये, नसैनी के समान है।

-वीरज्ञानोदय ग्रन्थमाला

तीर्थङ्कर ऋषभदेव योग प्रवर्तक थे। कैलाश (अष्टापद) पर उन्होंने जो साधना की वे अत्यन्त रोमांचक होने के साथ साथ अनेक पद्धतियों की आविर्भावक भी थी। वे प्रथम योगी बन गये। उनके माता पिता का नाम मेरू और नाभि भी योग से सम्बद्ध है अर्थात नाभि और मेरू से उत्पन्न होने वाला ऋषभ। जो नाभि और मेरू से उत्पन्न होगा; वह विशेष ऊर्जा सम्पन्न होगा। यह ऊर्जा चेतना की ही हो सकती है। अतः ऋषभ श्रेष्ठ है। श्रीमद् भागवत में ऋषभदेव की योगचर्या की विस्तृत चर्चा की गयी है।

-मुनि महेन्द्र कुमारजी

वी. जी. नैय्यर ने अपने ग्रन्थ में लिखा है — ''द्रविड़ श्रमण धर्म के अनुयायी थे। श्रमणधर्म का उपदेश ऋषभदेव ने दिया था। वैदिक आर्यों ने, उन्हें जैनों का प्रथम तीर्थंकर माना है। मनु ने द्रविड़ों को व्रात्य कहा है, क्योंकि वे जैनधर्मानुयायी थे।'' **-दि इन्डस वैली सिविलाइजेशन एण्ड ऋषभ - पृ.२**

शतपथ ब्राह्मण में लिखा है व्रतधारी होने के कारण (अरिहंत) अर्हत् के उपासकों को व्रात्य कहते थे। वे प्रत्येक विद्याओं के जानकार होने के कारण द्राविड़ नाम से प्रसिद्ध थे। ये बड़े बलिष्ठ, धर्मनिष्ठ, दयालु और अहिंसा धर्म को मानने वाले थे। ये अपने इष्टदेव को वृत्र (सब ओर से घेरकर रहने वाला सर्वज्ञ) अहिन् सर्व आदरणीय परमेष्ठी, परमसिद्धी के मालिक, जिन, संसार के विजेता, शिव आनंदपूर्ण, ईश्वर, महिमापूर्ण आदि नामों से पुकारते थे। ये आत्मशुद्धि के लिये अहिंसा, संयम और तपोनिष्ठ मार्ग के अनुयायी, तथा ये केशी (जटाधारी) शिश्नदेव (नग्न साधुओं) के उपासक थे।

-अनेकान्त वर्ष १२, किरण ११, पृ. ३३५

पद्मपुराण में लिखा है—इस आर्हत धर्म के प्रवर्तक तीर्थंकर ऋषभदेव कहे जाते हैं :

''आर्हतं सर्वैमैतच्च मुक्ति द्वारम् संवृतम।
धर्मात् विभुक्ते रहोयं नः तस्मादपरः परः।''

-पर्व १३/३५० पद्मपुराण

आर्यमंजुश्री मूल काव्य में भारत के प्राचीनतम सम्राटों में नाभिराय के पौत्र सम्राट भरत को बताया गया है। उसमें लिखा है—नाभि के पुत्र भगवान् ऋषभदेव ने हिमालय में तप द्वारा सिद्धि प्राप्त की थी, और वे जैनधर्म के आद्यदेव थे—

''प्रजापते सुतो नाभिः तस्यापि आगमुच्यति।
नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढव्रतः।

तस्यापि मणिचरो यक्षः सिद्धो हेमवते गिरौ।
ऋषभस्य भरतः पुत्रः सो पि मज्जतात् सदा जपेत्।''

इसी ग्रन्थ में एक स्थान में कपिल का भी उल्लेख है। **'कपिल मुनिनाम ऋषि वरो, निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभ निर्ग्रन्थ रूपि।'**

जैन शास्त्रों में ऋषभदेव का वर्णन बहुत कुछ वेदों और पुराणों के अनुसार ही मिलता है। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि जिन ऋषभदेव की महिमा वेदान्तियों के ग्रन्थों में वर्णन है, जैनी भी उन्हीं ऋषभदेव को पूजते हैं, दूसरे को नहीं।

''युगेयुगे महापुण्यं दृश्यते द्वारिका पुरी।
अवतीर्णो हरिर्यत्र प्रभासशशिभूषणः।।
रेवताद्रौजिनो नेमिर्युगादिर्विमलाचले।
ऋषीणामश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्।।''

—श्री महाभारत

अर्थ- युग-युग में द्वारिकापुरी महा क्षेत्र है, जिसमें हरि का अवतार हुआ है जो प्रभास क्षेत्र में चन्द्रमा की तरह शोभित है। और गिरनार पर्वत पर नेमिनाथ और कैलाश (अष्टापद) पर्वत पर आदिनाथ अर्थात् ऋषभदेव हुए हैं। ये क्षेत्र ऋषियों के आश्रम होने से मुक्तिमार्ग के कारण हैं।

श्री नेमिनाथ स्वामी भी जैनियों के २२वें तीर्थंकर हैं और श्री ऋषभनाथ को आदिनाथ भी कहते हैं, क्योंकि वे इस युग के आदि तीर्थंकर हैं।

''दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः।
नीतित्रयस्य कर्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः।।
सर्वज्ञः सर्वदर्शी च सर्वदेवनमस्कृतः।
छत्रत्रयीभिरापूज्यो मुक्तिमार्गमसौ वदन्।।
आदित्यप्रमुखाः सर्वे बद्धांजलिभिरीशितुः।
ध्यायंति भावतो नित्यं यदंघ्रियुगनीरजम्।।
कैलासविमले रम्ये ऋषभोयं जिनेश्वरः।
चकार स्वावतारं यो सर्वः सर्वगतः शिवः।।''

—श्री नागपुराण

अर्थ- वीर पुरुषों को मार्ग दिखाते हुए सुर असुर जिनको नमस्कार करते हैं जो तीन प्रकार की नीति के बनाने वाले हैं, वह युग के आदि में प्रथम जिन अर्थात् आदिनाथ भगवान् हुए, सर्वज्ञ (सबको जानने वाले), सबको देखने वाले, सर्व देवों के पूजनीय, छत्रत्रय करके पूज्य, मोक्षमार्ग का व्याख्यान कहते हुए, सूर्य को प्रमुख रखकर सब देवता सदा हाथ जोड़कर भाव सहित जिसके चरणकमल का ध्यान करते हुए ऐसे ऋषभ जिनेश्वर निर्मल कैलाश पर्वत पर अवतार धारण करते हुए जो सर्वव्यापी हैं और कल्याणरूप हैं।।

'अष्टषष्टिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।
आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत्।।'

—शिवपुराण

अर्थ- अड़सठ (६८) तीर्थों की यात्रा करने का जो फल है, उतना फल श्री आदिनाथ के स्मरण करने ही से होता है।

अग्निध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुत्तो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः।।३९।।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः पुलहाश्रमसंशयं।।४०।।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्ष भारताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्ष तस्य नाम्ना महात्मनः।।४०।।

—मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ४० पृ.१५०

हिमाह्वं तु यद्वर्ष नाभेरासीन्महात्मनः।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मेरुदेव्या महाद्युतिः।।३७।।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रः शताग्रजः।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं भरतं पृथिवीपतिः।।३८।।

—कूर्मपुराण, अध्याय ४१ पृ.६१

जरामृत्युभयं नास्ति धर्माधमौ युगादिकम्।
नाधर्म मध्यमं तुल्या हिमादेशात्तु नाभितः।।१०।।
ऋषभो मरुदेव्या च ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
ऋषभोदात्तश्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरिं गतः।।११।।
भरताद् भारतं वर्ष भरतात् सुमतिस्त्वभूत्।

—अग्निपुराण, अध्याय १० पृ.३२

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं मरुदेव्या महाद्युतिः।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वेक्षत्रस्य पूर्वजम्।।५०।।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्याथ भरतं पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः।।४१।।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्ष भरताय न्यवेदयत्।
तस्माद् भारतं वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।।४२।।

-वायुमहापुराण पूर्वार्ध, अध्याय ३३ पृ.५१

नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरु देव्या महाद्युतिम्।।५९।।
ऋषभं पार्थिवं श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।।६०।।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः।
हिमाह्वं दक्षिणं वर्ष तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।।६१।।

-ब्रह्माण्डपुराण पूर्वार्ध, अनुषङ्गपाद, अध्याय १४

नाभिर्मरूदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं,
तस्य भरतः पुत्रश्च तावदग्रजः तस्य भरतस्य पिता
ऋषभः हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्ष महद् भारतं नाम शशास।

-वाराहपुराण, अध्याय ७४ पृ ४९

नाभेर्निसर्ग वक्ष्यामि हिमांकेऽस्मिन्निबोधत।
नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरूदेव्यां महामतिः।।१९।।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम्।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।।२०।।
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः।

ज्ञानं वैराग्यमाश्रित्य जितेन्द्रियमहोरगान्।।२१।।
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य परमात्मानमीश्वरम्।
नग्नो जटो निराहारोऽचीरी ध्वान्तगतो हि सः।।२२।।
निराशस्त्यक्तसंदेहः शैवमाप परं पदम्।
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।।२३।।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।

-लिंगपुराण, अध्याय ४७ पृ ६८

न ते स्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा।
हिमाह्वयं तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः।।२७।।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः।।२८।।

-विष्णुपुराण, द्वितीयांश, अध्याय १ पृ. ७७

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्षं भारतं चेति कीर्त्यते।।५७।।

-स्कन्धपुराण, माहेश्वरखण्ड, कौमारखण्ड, अध्याय २७

इन सभी उदाहरणों से ऋषभदेव की ऐतिहासिक प्रामाणिकता में कोई भी संदेह नहीं रह जाता है। ये सभी प्रमाण स्पष्ट करते हैं कि नाभि और मरुदेवी के पुत्र ऋषभ थे। जो योग में, तप में, क्षत्रियों में, राजाओं में श्रेष्ठ थे तथा हिमालय के दक्षिण क्षेत्र को उन्होंने अपने पुत्र भरत को सौंप दिया। और भरत के नाम से ही इस क्षेत्र का नाम भारत वर्ष पड़ा।

जिस प्रकार जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से ही मानव सभ्यता के विकास का प्रारम्भ मानती है, उसी प्रकार अन्य सभी परम्पराओं में भी यही मान्यता कहीं प्रत्यक्ष तो कहीं अप्रत्यक्ष रूप से स्थापित है। अतः यह निर्विवाद है कि मानव सभ्यता और संस्कृति के आदि जनक ऋषभदेव थे। इस विषय में Dr. Stella Gerdner ने लिखा है "The ancient rythm of history have been vibrant enough to focus enough light on jainism. As Risabh or Brisabh as he is generally known has been one of the most remarkable historical person of all times. It was he who changed the forms of society as more scientific one than it was in its primitive stage. (Formation of Identity And Other Essays Pg.313).

ऋग्वेद के गवेषणात्मक अध्ययन के आधार पर प्रसिद्ध विद्वान **श्री सागरमलजी** ने अर्हत् और ऋषभवाची ऋचायें नामक लेख में लिखा है— ''ऋग्वेद में ना केवल सामान्य रूप से श्रमण परम्परा और विशेष रूप से जैन परम्परा से सम्बन्धित अर्हत्, अरहन्त, व्रात्य, वातरसनामुनि, श्रमण आदि शब्दों का उल्लेख मिलता है अपितु उसमें अर्हत् परम्परा के उपास्य वृषभ का भी शताधिक बार उल्लेख मिलता हैं। मुझे ऋग्वेद में वृषभवाची ११२ ऋचाएँ प्राप्त हुई हैं। सम्भवतः कुछ और ऋचाएँ भी मिल सकती हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि इन सभी ऋचाओं में प्रयुक्त वृषभ शब्द ऋषभदेव का ही वाची है, फिर भी कुछ ऋचाएँ तो अवश्य ऋषभदेव से सम्बन्धित ही मानी जा सकती हैं। डॉ. राधाकृष्णन, प्रो. जिम्मर, प्रो. वार्डियर आदि कुछ जैनेतर विद्वान इस मत के प्रतिपादक हैं कि ऋग्वेद में जैनों के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव से संबंधित निर्देश उपलब्ध होते हैं। बौद्ध साहित्य के धम्मपद में उन्हें (उसभं पवरं वीरं - ४२२) कहा गया है।''

Prof Nathmal Kedia के अनुसार — "Change in times and these positive effects have

quite a number of times been contrary to the effects of society. Because of the changes in society the basic mores and systematic social strata were dwindling in ancient times. Jainism was one of the more important religion of the world which emancipated the humanistic theory thereby ethically evaluating the social strata. Rishabh Deva and Bharat along with their descendents who reigned in the primaeval Indian soil, totally changed the face of society in this very ethical manner were human beings was the supreme and nothing non existed beyond this facade no Godheads or Gods whatsoever. (Religion And Society Edited by Prof Friedrich Stam– Pg 12)

अग्नि की स्तुति के लिये वैदिक सूत्रों में जिन-जिन विशेषणों का प्रयोग किया गया है उनके अध्ययन से स्पष्ट है कि यह अग्निदेव भौतिक अग्नि न होकर इन्हें ऋषभदेव के लिये अभिहित किया गया है। क्योंकि उनका कर्म अग्नि के समान था। जिस प्रकार सूर्य जीव जगत् में प्राण का संचार करता है उसी प्रकार उन्होंने जीव जगत् में ज्ञान का संचार किया। **'देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम्'** देवा अर्थात् अपने को देव संज्ञा से अभिवादन करने वाले आर्यगणों ने द्रविणोदाम् अर्थात् धन ऐश्वर्य प्रदान करने वाले अग्नि को धारयन् अपने आराध्यदेव के रूप में धारण कर लिया।

यह सूत्र ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इससे पता चलता है कि भगवान् ऋषभदेव वैदिक संस्कृति के पूर्व के आराध्य देव थे। क्योंकि जीव जगत् का स्रोत अग्नि है, सूर्य के बगैर यह संसार नहीं चल सकता उसी तरह इस आरे में मनुष्यों के सारे संस्कार ऋषभदेव द्वारा किये गये इसलिये उनकी तुलना सूर्य और अग्नि से की जाती है। अग्नि जीव जगत् का प्राण है उसी प्रकार इस जीव जगत् में मनुष्य के हर संस्कार का प्राण ऋषभदेव ही हैं।

'अपश्चमित्र' (जो संसार का मित्र है।) 'धिपणा च साधन' (जो ध्यान द्वारा साध्य है), 'प्रन्नथा' (जो पुरातन है), 'सहसा जायमानः' (जो स्वयंभू है) 'सद्यः काव्यानि षडधन्त विश्वा' (जो निरन्तर विभिन्न काव्यस्तोत्रों को धारण करता है, अर्थात् जिसकी सभी जन स्तुति करते रहते हैं), 'देवो अग्नि धारयन् द्रविणोदाम्' (देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि को धारण कर लिया ।

'पूर्वया निविदा काव्यतासोः' (जो प्राचीन निविदों द्वारा स्तुति किया जाता है), 'यमा; प्रजा अजन्यन् मनुनाम्' (जिसने मनुओं की सन्तानीय प्रजा की व्यवस्था की) 'विवस्वता चक्षुषा द्याम पञ्च' (जो अपने ज्ञान द्वारा द्यु और पृथ्वी को व्याप्त किए हुए हैं, देवों ने उस द्रव्यदाता को धारण कर लिया।)

'तमीडेत महासंघ' (तुम उसकी स्तुति करो जो सर्वप्रथम मोक्ष का साधक है), 'अर्हत' (सर्वपूज्य) है, 'आरीविशः उव्जः भृज्जसानम्' (जिसने स्वयं शरण में आने वाली प्रजा को बल से समृद्ध करके), 'पुत्रं भरतं सम्प्रदानुं' (अपने पुत्र भरत को सौंप दिया), 'देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि' (अग्नि देवता को) 'धारयन्' (धारण कर लिया।)

'स मातरिश्वा' (वह वायु के समान निर्लेप और स्वतन्त्र है), 'पुरुवार पुष्टि' (अभीष्ट वस्तुओं का पुष्टिकारक साधन है), 'उसने स्वर्वितं' (ज्ञान सम्पन्न होकर), 'तनयाय' (पुत्र के लिए) 'गातं' (विद्या), 'विदद' (देदी), 'वह विशांगोपा' (प्रजाओं का संरक्षक है,) 'पवितारोदस्योः' (अभ्युदय तथा निःश्रेयस का उत्पादक है), 'देवों ने उस द्रव्यदाता अग्नि' (अग्रनेता को) ग्रहण कर लिया।

ऋग्वेद के ये सूत्र ऋषभदेव और अग्नि तथा सूर्य की समानता को स्पष्ट करते हैं। स्वर्गीय डॉ. नरेन्द्र विद्यार्थी ने ऋग्वेद के इस प्रथम श्लोक जो अग्नि को सम्बोधित है के साथ भी शब्द और भाव साम्य दोनों बताया है।

''ओऽम् अग्नि मीडे पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विज होतारं रत्नधातमम्
अग्निः पूर्वभिऋषिभिरीडयो नूतनं स्त सदेवो एह वक्षति''

जिसका अर्थ है— मैं अग्रनेता ब्रह्मा की स्तुति करता हूँ जो अग्र हितैषी हैं जो सभी कार्यों के आदि में पूज्य माने जाते हैं, जो युक्ति साधना के आदर्श हैं, जो रत्नत्रय धारी हैं। जो जन्म-मरण रूप संसार को हवि देने वाले हैं, जो धर्म संस्थापक हैं वह अग्रनेता पुराने और नये सभी ऋषियों द्वारा स्तुत्य है वह मुझे आत्मशक्ति प्रदान करें। श्री ए.एच. आहुवालिया के अनुसार— "They worshipped Agni knowing that it was the terrestrial representative of the mighty sun, the source of all power and life giver argumentor of all precious things' – A.H.Ahuwalia.

इसी प्रकार सामवेद १-१ में लिखा है कि— **(अग्न आ याहि वतिये गृणानो हव्यदातये नि होता सत्सि बर्हिर्षि)** अर्थात् Agni come! come for the good of us all. Come be anxious to participate in all that we have to offer you. यह सभी श्लोक स्पष्ट करते हैं कि ऋषिगण भौतिक अग्नि का आह्वान् नहीं कर रहे वरन् जो दिखाई नहीं देती ऐसी सर्वोच्च सिद्ध शक्ति का आह्वान् कर रहे हैं।

'उड़ीसा में जैन धर्म' किताब की भूमिका में नीलकण्ठ साहू ने लिखा है कि ''जगन्नाथ जैन शब्द है और ऋषभनाथ के साथ इसकी समानता है। ऋषभनाथ का अर्थ है सूर्यनाथ या जगत् का जीवन रूपी पुष्प। ऋषभ यानि सूर्य होता है। यह प्राचीन बेबीलोन का आविष्कार है। प्रो. सई ने अपने Hibbert Lectures (1878) में स्पष्ट कहा है कि इसी सूर्य को वासन्त विषुवत में देखने से लोगों ने समझा कि हल जोतने का समय हो गया है। वे वृषभ अर्थात् बैलों से हल जोतते थे इसलिये कहा गया कि वृषभ का समय हो गया। इस दृष्टि से लोक भाषा में सूर्य का नाम ऋषभ या वृषभ हो गया। उससे पूर्व सूर्य जगत् का जीवन है यह धारण लोगों में बद्धमूल हो गयी थी। अतः ऋषभ की और सूर्य की उपासना का ऐक्य स्थापित हो गया। इस प्रकार नीलकण्ठ साहू ने उड़ीसा से बेबीलोन तक व्याप्त ऋषभ-संस्कृति को व्यक्त किया है।''

आगे वे लिखते हैं कि ''अति प्राचीन वैदिक मंत्र में भी कहा है- सूर्य आत्मा जगत् स्तस्थुषश्च। (ऋग्वेद १-११५-१) सूर्य जगत् का आत्मा या जीवन है। बेबीलोन के निकट जो तत्कालीन प्राचीन मिट्टानी राज्य था वहाँ से यह बात पीछे आयी थी। उस समय मिट्टानी राष्ट्र के राजा (ई० पू० चौदहवीं शताब्दी) दशरथ थे। उनकी बहन और पुत्री दोनों का विवाह मिस्त्र सम्राट के साथ हुआ था। उन्हीं के प्रभाव से प्रभावित होकर चतुर्थ आमान हेटय् या आकनेटन् ने आटेन (आत्मान्) नाम से इस सूर्य धर्म का प्रचार किया था। और यह **सूर्य या जगत् का आत्मा ही परम पुरुष या पुरुषोत्तम है** ऐसा प्रचार कर एक प्रकार से धर्म में पागल होकर समस्त साम्राज्य को भी शर्त पर लगाने का इतिहास में प्रमाण है। बहुत सम्भव है कि कलिंग में द्रविड़ों के भीतर से ये जगन्नाथ प्रकट हुए हों। मिस्त्रीय पुरुषोत्तम तथा पुरी के पुरुषोत्तम ये दोनों इसी जैन धर्म के परिणाम हैं।''

सराक जाति के प्रसंग में भी ऋषभदेव और अग्नि का सम्बन्ध परिलक्षित होता है। सराक जाति में प्रधानतः दो गोत्र पाए जाते हैं — आदिदेव एवं ऋषभदेव। हाँ कुछ अल्प संख्यक सराकों में अवश्य किसी और गोत्र का परिचय मिलता है पर वे नगण्य ही हैं। प्रधानता आदिदेव एवं ऋषभदेव की ही है। आदिदेव ऋषभदेव का ही एक अन्य नाम है।

''स्मरणातीत काल से ही मनुष्य अपने जाति एवं गोत्र को जानता रहा है। मानवों का एक-एक समूह इतिहास के संधि स्थलों पर जिस युगपुरुष के माध्यम से परिचालित हुआ है, जिनके प्रवर्तित अनुशासन एवं रीत-नीतियों को माना है, जिनके निकट दीक्षित हुए हैं—वहीं उस समूह के गोत्रपिता कहलाए एवं इस

गोत्र परिचय के फलस्वरूप हजारों हजार वर्षों बाद भी मनुष्य अपने-अपने गोत्र के लोगों को अच्छी तरह पहचान लेते हैं।''

सराक जाति के गोत्रपिता ऋषभदेव थे, इसीलिए निस्सन्देह रूप से कहा जा सकता है कि इनके पूर्व पुरुष भगवान् ऋषभदेव के अत्यन्त ही निकटतम व्यक्ति थे, ऐसा भी हो सकता है कि उनके साथ उन लोगों का खून का रिश्ता भी रहा हो। इसीलिए, ऋषभदेव द्वारा प्रचलित अनुशासन उनके लिए सर्वथा पालन करने योग्य था।

सराक शब्द का साधारण अर्थ होता है श्रावक अर्थात् श्रमणकारी। पाश्चात्य पण्डितों ने ही सर्वप्रथम इस अर्थ को प्रचलित किया। यद्यपि पूरे विश्व में एवं हमारे देश में भी प्रागैतिहासिक युग से ही अधिकांश जातियों के नाम उस जाति के जातिगत पेशे और उसके आदिभूमि के आधार पर रखे गए हैं। इस दृष्टि से भी हम देख सकते हैं कि सराक, सराग, सराकी, सरापी तथा सरोगी आदि शब्द सर + आग या सर + आगी से आए हैं। सर शब्द का अर्थ होता है निःसृत होना एवं आगि अथवा आगी का अर्थ होता है अग्नि। अतएव सराग व सरांगी शब्दों का अर्थ है **अग्नि से निःसृत** अथवा जो अग्नि से कुछ निःसृत कराते हैं।

''नव पाषाण युग के अन्तिम समय तक मनुष्य यही जानता था कि अग्नि सब कुछ ध्वंस कर देती है। पर अचानक ही आश्चर्य के साथ उन्होंने देखा कि ऋषभ पुत्रगणों ने अग्नि से ध्वंस हुए मलवों से कुछ महामूल्यवान पदार्थ निःसृत किये। इसीलिए, शायद इन्हें सराग कहा गया हो। सरागी अथवा अग्निपुत्र के रूप में यह जाति श्रेष्ठ सम्मान से विभूषित हुई।'' (पूर्वांचल में सराक संस्कृति और जैन धर्म—तित्थयर)

अग्नि प्रयोग के साथ साथ कृषि का ज्ञान भी ऋषभदेव ने दिया था। इस सन्दर्भ में कर्नल टॉड ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ राजस्थान का इतिहास में ऋषभदेव और नूह के साम्य के विषय में उल्लेख करते हुए लिखा है- "Arius montanus" नामक महाविद्वान् ने लिखा है नूह कृषि कर्म से प्रसन्न हुआ और कहते इस विषय में वह सबसे बढ़ गया। इसलिए उसी की भाषा में वह इश-आद-मठ अर्थात् भूमि के काम में लगा रहने वाला पुरुष कहलाया। इश-आद-मठ का अर्थ पृथ्वी का पहला स्वामी होता है। आगे टॉड साहब कहते हैं- ''उपर्युक्त पदवी, प्रकृति और निवास स्थान जैनियों के प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ के वृत्तांत के साथ ठीक बैठ सकते हैं जिन्होंने मनुष्यों को खेती बाड़ी का काम और अनाज गाहने के समय बैलों के मुँह को छीकी लगाना सिखाया।''

यह आश्चर्य का विषय है कि ऋषभदेव के विषय में इतने उल्लेख प्राप्त होने के बाद भी कुछ विद्वान् इस सत्यता को स्वीकारने से कतराते हैं इसका कारण या तो उनकी अज्ञानता है या धार्मिक विद्वेष। प्रो. विरुपाक्ष वार्डियर, एम. ए. वेदतीर्थ आदि विद्वानों ने ऋग्वेद में वर्णित ऋषभदेव को आदि तीर्थंकर ऋषभ ही स्वीकार किया है। मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा से प्राप्त सीलों से भी आज से ५००० वर्ष पहले भी ऋषभदेव की मान्यता के पुष्ट प्रमाण मिले हैं।

मोहन-जो-दड़ो से कुछ नग्न कायोत्सर्ग योगी मुद्राएँ मिली हैं, उनका संबन्ध जैन संस्कृति से है। इसे प्रमाणित करते हुए स्व. राय बहादुर प्रो. चन्द्रप्रसाद रमा ने अपने शोधपूर्ण लेख में लिखा है—

''सिंधु मुहरों में से कुछ मुहरों पर उत्कीर्ण देवमूर्तियाँ न केवल योग मुद्रा में अवस्थित हैं वरन् उस प्राचीन युग में सिंधु घाटी में प्रचलित योग पर प्रकाश डालती हैं। उन मुहरों में खड़े हुए देवता योग की खड़ी मुद्रा भी प्रकट करते हैं और यह भी कि कायोत्सर्ग मुद्रा आश्चर्यजनक रूप से जैनों से संबन्धित है। यह मुद्रा बैठकर ध्यान करने की न होकर खड़े होकर ध्यान करने की है। आदि पुराण सर्ग अठारह में ऋषभ अथवा वृषभ की तपस्या के सिलसिले में कायोत्सर्ग मुद्रा का वर्णन किया गया है। मथुरा के कर्जन पुरातत्त्व संग्रहालय में एक शिला फलक पर जैन ऋषभ की कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई चार प्रतिमाएँ मिलती हैं, जो ईसा की द्वितीय

शताब्दी की निश्चित की गई हैं। मथुरा की यह मुद्रा मूर्ति संख्या १२ में प्रतिबिम्बित है। प्राचीन राजवंशों के काल की मिश्री स्थापत्य में कुछ ऐसी प्रतिमाएँ मिलती हैं जिनकी भुजाएँ दोनों ओर लटकी हुई हैं। यद्यपि ये मिश्री मूर्तियाँ या ग्रीक कुरों प्रायः उसी मुद्रा में मिलती हैं, किन्तु उनमें वैराग्य की वह झलक नहीं है जो सिंधुघाटी की इन खड़ी मूर्तियों या जैनों की कायोत्सर्ग प्रतिमाओं में मिलती हैं। ऋषभ का अर्थ होता है वऋषभ और वृषभ जिन ऋषभ का चिह्न है।'' - मार्डन रिव्यु अगस्त १९३२ पृ. १५६-६०

प्रो. चंद्रा के इन विचारों का समर्थन प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार भी करते हैं। वे भी सिंधुघाटी में मिली इन कायोत्सर्ग प्रतिमाओं को ऋषभदेव की मानते हैं, उन्होंने तो सील क्रमांक ४४९ पर जिनेश्वर शब्द भी पढ़ा है। (It may also be noted that incription on the Indus seal No.449 reads according to my decipherment ""Jinesh". (Indian Historical Quarterly.) Vol. VIII No.250.

इसी बात का समर्थन करते हुए डॉ. राधाकुमुद मुखर्जी लिखते हैं कि ''फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शल कृत मोहनजोदड़ो) कायोत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित करती हैं। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है। जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर ऋषभ देवता की मूर्ति में। ऋषभ का अर्थ है बैल, जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या F.G.H. फलक पर अंकित देव मूर्ति में एक बैल ही बना है। संभव है यह ऋषभ का ही पूर्व रूप हो।''

-हिन्दू सभ्यता पृ. ३९- जैन धर्म और दर्शन

इसी बात की पुष्टि करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं —

''मोहन-जो-दड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई हैं जैसे कालान्तर में वह शिव के साथ समन्वित हो गयीं। इस दृष्टि से जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्ति युक्त नहीं दिखता कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेद पूर्व हैं।'' —संस्कृति के चार अध्याय पृ.६२

इसी संदर्भ में प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. एम. एल. शर्मा लिखते हैं — मुनि श्री विद्यानन्दजी महाराज ने अपने लेख मोहन-जो-दड़ो : जैन परम्परा और प्रमाण में लिखा है- भगवान् ऋषभदेव का वर्णन वेदों में नाना सन्दर्भों में मिलता है। कई मन्त्रों में उनका नाम आया है। मोहन-जो-दड़ो (सिन्धुघाटी) में पाँच हजार वर्ष पूर्व के जो पुरावशेष मिले हैं। उनसे भी यही सिद्ध होता है कि उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म हजारों साल पुराना है। मिट्टी की जो सीलें वहाँ मिली हैं, उनमें ऋषभनाथ की नग्न योगिमूर्ति है, उन्हें कायोत्सर्ग मुद्रा में उकेरा गया है। ''मोहन-जो-दड़ो से प्राप्त मुहर पर जो चिह्न अंकित है वह भगवान् ऋषभदेव का है। यह चिह्न इस बात का द्योतक है कि आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व योग साधना भारत में प्रचलित थी और उसके प्रवर्तक जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव थे। सिंधु निवासी अन्य देवताओं के साथ ऋषभदेव की पूजा करते थे।'' (भारत में संस्कृति और धर्म पृ.६२)

विद्वानों के अनुसार प्राचीनकाल से दो धारायें चल रही हैं। आर्हत् और बार्हत। पाणिनी ने भी दोनों का उल्लेख करते हुए दोनों में परम्परागत शाश्वत विरोध बताया है। तार्किक दृष्टि से देखें तो मूलधारा एक होती है जिससे बाद में शाखाएँ प्रशाखाएँ निकलती हैं। मुख्य धारा आर्हत् संस्कृति थी जो ऋषभदेव से प्रारम्भ हुई और उससे विशृँखल हुए लोगों ने अर्थात् जो उसका पालन नहीं कर सके उन्होंने अलग रास्ता अपनाकर विभिन्न धर्मों का प्रारम्भ किया। ऋषभदेव के पौत्र मरिची के शिष्य कपिल से सांख्य धर्म का प्रारम्भ हुआ और सांख्य धर्म ही बाद में वैदिक धर्म की आधारशिला बना। इसीलिये यदि हम किसी भी धर्म या संस्कृति के मूल स्रोत में जायें तो वहाँ हमें ऋषभ संस्कृति के ही दर्शन होगें। Hermann Jacobi का इस विषय में यह उल्लेख महत्त्वपूर्ण है- "The interest of Jainism to the student of

religion consists in the fact that it goes back to a very early period, and to primitive currents of religious and metaphysical speculation, which gave rise also to the oldest Indian Philosophies - Sankhya and Yoga - and to Buddhism."

डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल भी इससे सहमत हैं उनके अनुसार- ''यह सुविदित है कि जैन धर्म की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भगवान् महावीर तो अन्तिम तीर्थंकर थे-भगवान् महावीर से पूर्व २३ तीर्थंकर हो चुके थे उन्हीं में भगवान् ऋषभदेव प्रथम तीर्थंकर थे जिनके कारण उन्हें आदिनाथ कहा जाता है। जैन कला में उनका अंकन घोर तपश्चर्या की मुद्रा में मिलता है। ऋषभनाथ के चरित्र का उल्लेख श्रीमद् भागवत् में भी विस्तार से आता है और यह सोचने को बाध्य होना पड़ता है कि उसका क्या कारण रहा होगा? भागवत् में इस बात का भी उल्लेख है कि महायोगी भरत, ऋषभ के शत् पुत्रों में ज्येष्ठ थे और उन्हीं से यह देश भारत वर्ष कहलाया।'' —जैन साहित्य का इतिहास—प्रस्तावना पृ.८

भारतीय दर्शन के पृष्ठ ८८ में श्री बलदेव उपाध्याय लिखते हैं- ''जैन लोग अपने धर्मप्रचारक सिद्धों को तीर्थंकर कहते हैं जिनमें आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव थे। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में संशय नहीं किया जा सकता।''

1907 में हेनरी विलियम्स द्वारा सम्पादित "Historians History of the World" ग्रन्थावली के चौबीस खण्ड में एक शब्द भी जैन धर्म या आर्हत् संस्कृति के विषय में नहीं मिलता है यहाँ कि भारतीय इतिहास खण्ड में भी जैन धर्म का कोई उल्लेख नहीं है। लेकिन ऋषभ तथा अन्य तीर्थंकरों का वर्णन वहां भी है। उसीमें इतिहासकार हेरेन ने मिस्र और फिनिशिया के इतिहास के विषय में लिखा है। "The Gods Anat and Reschuf seems to have reached the Phoenecians from North Syria at a very early period. So far indeed, it is only certain that they were worshipped by the Phoenecian colonists on Cyprus. Portraits of these deities are displayed on the monuments of the Egyptians" इस प्रकार के अनेकों संदर्भ तीर्थंकरों से संबन्धित हमें मिले हैं। सीरिया और बेबीलोन की प्राचीन सभ्यता में भी ऋषभ संस्कृति की झलक मिलती है। Thomas Maurice ने अपनी किताब The History of Hindustan, its Art, and its Science में लिखा है "The Original Sanskrit name of Babylonia is Bahubalaneeya; The realm of king Bahubali" यह सर्वविदित है कि बाहुबली ऋषभदेव के पुत्र थे। और उनकी मान्यता आज भी चली आ रही है।

इसी संदर्भ में वी. जी. नायर लिखते हैं- "There is authentic evidence to prove that it was the Phoenicians who spread the worship of Rishabha in Central Asia, Egypt and Greece. He was worshipped as 'Bull God' in the features of a nude Yogi. The ancestors of Egyptians originally belonged to India. The Phoenicians had extensive cultural and trade relation with India in the pre-historic days. In foreign countries, Rishabha was called in different names like Reshef, Apollo, Tesheb, Ball, and the Bull God of the Mediterranean people. The Phoenicians worshipped Rishabha regarded as Appollo by the Greeks. Reshef has been identified as Rishabha, the son of Nabhi and Marudevi, and Nabhi been identified with the Chaldean God Nabu and MaruDevi with Murri or Muru. Rishabhdeva of the Armenians was undoubtedly Rishabha, the First Thirthankara of the Jains. A city in Syria is known as Reshafa. In Soviet Armenia was a town called Teshabani. The Sabylonion city of Isbekzur seems to be a corrupt form of Rishabhapur.......A bronze image of Reshef (Rishabha) of the 12th century B.C. was discovered at Alasia near Enkomi in Cyprus. An ancient Greek image of Appollo resembled

Tirthankara Rishabha. The images of Rishabha were found at Malatia, Boghaz Koi and also in the monument of Isbukjur as the chief deity of the Hittite pantheon. Excavations in Soviet Armenia at Karmir-Blur near Erivan on the site of the ancient Urartian city of Teshabani have unearthed some images including one bronze statue of Rishabha" - Research In Religion

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव केवल भारतीय उपास्य देव ही नहीं भारत के बाहर भी उनका प्रभाव देखा जाता है। विश्व की प्राचीनतम संस्कृति श्रमण संस्कृति अर्हतोपासना में आस्थावान थी तथा यह उतनी ही प्राचीन है जितनी आत्मविद्या और आत्मविद्या; क्षत्रिय परम्परा रही है। पुराणों के अनुसार क्षत्रियों के पूर्वज ऋषभदेव हैं। ब्राह्मण पुराण २:१४ में पार्थिव श्रेष्ठ ऋषभदेव को सब क्षत्रियों का पूर्वज कहा गया है। महाभारत के शान्ति पर्व में भी लिखा है कि क्षात्र धर्म भगवान् आदिनाथ से प्रवृत्त हुआ है शेष धर्म उसके बाद प्रचलित हुए हैं। प्राचीन भारत की युद्ध पद्धति नैतिक बन्धनों से जकड़ी हुई थी। प्राचीन युद्धों में उच्च चरित्र का प्रदर्शन होता था। इतनी उच्च श्रेणी का क्षत्रिय चरित्र का उदाहरण अन्यत्र कहीं नहीं दीखता; इसका एक मात्र कारण ऋषभ संस्कृति का प्रभाव है। आर्यों ने यह भारत की प्राचीन श्रमण परम्परा से ही सीखा है।

हिन्दू साहित्य में ब्रह्मा को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, नाभिज, चतुरानन, स्रष्टा और स्वयंभू आदि जिनका साम्य ऋषभदेव के चरित्र से भी मिलता है।

इस प्रकार जैन परम्परा के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव प्रथम योगी थे जिन्होंने ध्यान पद्धति का प्रारम्भ किया था। श्रीमद् भागवत में उन्हें योगेश्वर कहा गया है। महाभारत में हिरण्यगर्भ को सबसे प्राचीन योगवेत्ता माना गया है। जैन परम्परा के ऋषभदेव ही अन्य परम्पराओं में आदिनाथ, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा एवं शिव के नाम से प्रचलित हैं। ऋग्वेद के अनुसार हिरण्यगर्भ को भूत-जगत् का एकमात्र स्वामी माना गया है। सायण के अनुसार हिरण्यगर्भ देहधारी था। ऋषभदेव जब गर्भ में थे तब राज्य में धनधान्य की वृद्धि हुई इसीलिये उन्हें हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है। महापुराण में भी इस बात का उल्लेख मिलता है।

आगम और ऋग्वेद के व्युत्पत्ति जन्य अर्थ में अद्भुत साम्य देखने को मिलता है। जो इस प्रकार है। 'ऋ' का अर्थ है प्राप्त करना या सौंपना। 'क्' अक्षर का अर्थ है शिव, विष्णु, ब्रह्मा (सत्यम शिवम सुन्दरम) के रूप में भी मिलता है। और वेद का अर्थ है ज्ञान। अर्थात् ब्रह्मा, शिव (ऋषभदेव) से आया (प्राप्त) ज्ञान। आगम में - 'आ' का अर्थ है आया हुआ', 'अधिग्रहण'। 'ग' से गणधर। 'म' का प्रयोग ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनों के सम्मिलित रूप में होता है और ऋषभदेव से गणधरों को आया हुआ रहस्यमय ज्ञान या गणधरों द्वारा ग्रहण किया गया रहस्यमय ज्ञान। संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर (रामचन्द्र वर्मा द्वारा सम्पादित नागरी प्रचारणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित) के पृष्ठ ८१ में आगम का अर्थ वेद, शास्त्र, तन्त्रशास्त्र और नीतिशास्त्र दिया हुआ है। इससे यह पता चलता है कि आगम साहित्य वैदिक साहित्य से भी विशाल था। ''तन्त्र अभिनव विनिश्चय'' (शैव आगमों का प्रमुख ग्रन्थ) में लिखा है कि तंत्र के आदि स्रष्टा शिव थे। जिन्होंने आगम के रूप में वह ज्ञान पार्वती को दिया और पार्वती ने लोक कल्याण के लिये वह ज्ञान गणधरों को निगम के रूप में दिया। यह धारणा इस तथ्य की ओर इंगित करती है कि आदि एक है लेकिन विभिन्न लोगों ने अलग-अलग दृष्टिकोण से उसकी व्याख्या की है। ''एकं सद्विप्रा बहुधा वदनत्यग्निम् यमः मातरिश्वानम् आहुः।'' अतः मूल ज्ञान का स्रोत आगम थे और उसी का परिवर्तित रूप निगम बना। पार्वती शब्द का अर्थ पर्वत में रहने वाले लोग से भी होता है। जिनको पारवतीय कहकर सम्बोधित किया गया है। इस रहस्यमय आगम ज्ञान को सिर्फ भारत में ही नहीं यूरोप में भी कैसे नष्ट किया गया इसका एक उदाहरण यहाँ पर दिया जा रहा है। Godfrey Higgins ने अपने ग्रन्थ "The Celtic Druids" में इस विषय में लिखा है- "After the introduction of Christianity

the Ogam writings not being understood by the priests, were believed to be magical and were destroyed wherever they were found. patrick is said to have burnt 300 books in those letters."

"The word Agams or Ogam is mysterious" according to Sri William Jones "These Ogham Character" were the first invented letters.......the Druids of Ireland did not pretend to be the inventors of the secret system of letters but said that they inherited them from the most remote antiquity."

प्रख्यात घुमक्कड़, परिव्राजक, प्राचीन तंत्रशास्त्र के ज्ञाता एवं शैवागम के विशेषज्ञ विद्वान् श्री प्रमोदकुमार चटर्जी का कहना है- ''तन्त्र धर्म भारत के बाहर से आया हुआ है। शिव तिब्बत के पार्वत्य अंचल में रहा करते थे। जिन लोगों ने तिब्बत के भौगोलिक मानचित्र को देखा है, वे देखेगें कि उस देश के दक्षिण पश्चिम अंश में कैलाश पर्वत श्रेणी विद्यमान है। लगभग चार हजार या उससे भी कई शताब्दियों पहले एक महापुरुष उस अंचल में विद्यमान थे।

तिब्बत के कैलाश अंचल में जिस महामानव ने आदि धर्म का प्रवर्तन किया था, वे अशेष गुणसम्पन्न योगी थे-योगेश्वर के रूप में ही उनकी प्रसिद्धि थी। ये कभी योगभ्रष्ट नहीं हुए। उनसे ही समाज का सविशेष विकास हुआ है।''

स्पष्टतः प्रमोद चटर्जी यहाँ ऋषभदेव, आदिनाथ या शिव की तरफ इशारा करते हैं।

ब्रह्मा द्वारा वेदों की उत्पत्ति की मान्यता श्रमण संस्कृति की इस मान्यता से और भी पुष्ट होती है कि मूल वेदों की रचना भरत चक्रवर्ती द्वारा अपने पिता ऋषभदेव के उपदेशों को सूत्रबद्ध करके की गयी थी। बाद में वेद जब विच्छिन्न होने लगे तब उनमें भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिये हिंसक बलि, यज्ञ और शक्तिशाली देवताओं को प्रसन्न करने की स्तुतियाँ परवर्ती भाष्यकारों ने जोड़ दीं। निवृत्ति धर्म को गौण कर प्रवृत्ति धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा था। तत्पश्चात् व्यास जी ने इन ऋचाओं को संकलित कर उनके चार नाम से चार वेद बना दिये। प्राचीन काल में वेद जैन संस्कृति में भी मान्य रहे हैं। इसका प्रमाण आचारांग सूत्र से भी मिलता है। जहाँ कई स्थानों पर वेदवी शब्द का प्रयोग हुआ है जो गहन अनुसंधान का विषय है।

''एवं से अप्पमाएण विवेगं कीट्टति वेदवी''

- आचारांग सूत्र श्रुत १ अ. ४ उ. ४

''एत्थ विरमेज्ज वेदवी''

- आचारांग सूत्र श्रुत १ अ. ५ उ. ६

भगवान् महावीर द्वारा प्रथम समवसरण के समय गौतम आदि गणधरों के वैदिक श्रुतियों के विषय में संदेह का स्पष्टीकरण और उन श्रुतियों की सही व्याख्या करना इस मान्यता को और भी पुष्ट करता है कि प्राचीन काल में वेद जैनियों के मान्य ग्रन्थ थे। पारसी धर्मग्रन्थ अवेस्ता में प्राचीन वेदों का वर्णन मिलता है। विद, विश्वरद, विराद और अंगिरस। ये वेद खरोष्टि लिपि में लिपिबद्ध थे।

गोपथ ब्राह्मण (पूर्व २-२०) में स्वयंभू कश्यप का वर्णन मिलता है जो ऋषभदेव हैं। भागवत में और विष्णु पुराण में ऋषभदेव को विष्णु का अवतार बताया गया है। विष्णु शब्द में विष का अर्थ- प्रवेश करना तथा अश् का अर्थ- व्याप्त करना (धातु से) किया गया है। विष्णु पुराण में भी विष धातु का अर्थ प्रवेश करना है, सम्पूर्ण विश्व उस परमात्मा में व्याप्त है। ऋग्वेद में विष्णु को सौर देवता कहा है

और वे सूर्य के रूप हैं। आचार्य यास्क के अनुसार रश्मियों द्वारा समग्र संसार को व्याप्त करने के कारण ही सूर्य विष्णु नाम से अभिहित हुए हैं। ब्रह्म पुराण (१५८/२४) **"यश्च सूर्यः स वै विष्णुः स भास्करः"**। हमने प्रारम्भ में ही यह प्रमाणित किया है कि वेदों और पुराणों आदि ग्रन्थों में ऋषभदेव और सूर्य की समानता का उल्लेख मिलता है। जो विष्णु और सूर्य—ऋषभ और सूर्य दोनों की समानता की पुष्टि करता है। अर्हत् ऋषभदेव ने लोक और परलोक के आदर्श प्रस्तुत किये। गृहस्थधर्म और मुनिधर्म दोनों का स्वयं आचरण करते हुए राज्यावस्था में विश्व को सर्व कलाओं का प्रशिक्षण दिया तथा बाद में पुत्रों को राज्यभार सौंपकर अध्यात्मकला द्वारा स्व-पर कल्याण के लिये प्रव्रज्या ग्रहण कर अर्हत् बने। शायद यही कारण है कि श्रीमद्भागवत में उन्हें विष्णु भगवान् कहा है।

महर्षिःतस्मिन्नैव विष्णुदत्तः भगवान परमर्षिभिः प्रसादितः नाभेः
प्रिवचिकीर्षया तदवरोधाय ने मरुदेव्याधमान् दर्शयितुकामो
वातरशनानांः श्रमणः नामृषीणामूर्ध्वमंथिनां शुक्लया तनुवावतार।।

- ५।३।२० भागवत

अर्थात् - हे परीक्षित ! उस यज्ञ में महर्षियों द्वारा इस प्रकार प्रसन्न किये जाने पर भगवान् महाराज विष्णु नाभि को प्रिय करने के लिये उनके अन्तःपुर में महारानी मरुदेवी के गर्भ से वातरशना (योगियों) श्रमणों और ऊर्ध्वगामी मुनियों का धर्म प्रकट करने के लिये शुद्ध सत्वमय शरीर से प्रकट हुए।

श्रीमद्भागवतकार ने ही लिखा है कि यद्यपि ऋषभदेव परमानन्दस्वरूप थे, स्वयं भगवान् थे फिर भी उन्होंने गृहस्थाश्रम में नियमित आचरण किया। उनका यह आचरण मोक्षसंहिता के विपरीतवत् लगता है, किन्तु वैसा था नहीं। यथा—

भगवान् ऋषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः
केवलानन्दानुभवः ईश्वर एवं विपरीतवत् कर्मारण्यारभ्यमानः
कालेनानुरातं धर्ममाचरेणापंशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशांतो मैत्रः
कारुणिको धर्मार्थ यशः प्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोक नियमयत्।

- भागवत् ५।४।१४

अर्थात्— भगवान् ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ परम्परा से रहित केवल आनन्दानुरूप स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे तो भी विपरीतवत् प्रतीत होने वाले कर्म करते हुए उन्होंने काल के अनुसार धर्म का आचरण करके उसका सत्त्व न जानने वालों को उसी की शिक्षा दी। साथ ही सम (मैत्री), शान्त (माध्यस्थ), सहृद (प्रमोद), और कारुणिक (कृपापरत्व) रहकर धर्म, अर्थ, यश, सन्तानरूप भोग सुख तथा मोक्ष सुख का अनुभव करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया।

ऋषभ का एक अर्थ धर्म भी है। ऋषभदेव साक्षात् धर्म ही थे। उन्होंने भागवत में कहा है- मेरा यह शरीर दुर्विभाव है, मेरे हृदय में सत्त्व का निवास है वहीं धर्म की स्थिति है। मैंने धर्म स्वरूप होकर अधर्म को पीछे धकेल दिया है अतएव मुझे आर्य लोग ऋषभ कहते हैं।

इदं शरीरं मम दुर्विभाव्यं, सत्त्वं ही में हृदयं यत्र धर्मः।
पुष्टे कृतो मे यदधर्म आराधतो ही मां ऋषभं प्राहुरार्याः।।

—भागवत ५।५।२२

एक अन्य स्थान पर परीक्षित ने कहा है— हे धर्मतत्त्व को जानने वाले ऋषभदेव ! आप धर्म का उपदेश कर रहें हैं। अवश्य ही आप वृषभरूप में स्वयं धर्म हैं। अधर्म करने वाले को जो नरकादि स्थान प्राप्त होते हैं, वे ही आपकी निन्दा करने वाले को मिलते हैं। यथा—

धर्मबृवीषी धर्मज्ञ धर्मोसि वृषभ रूप धृक्।
यदधर्मकृतः स्थानं सूचकस्यापि तद्भवेत।।

—भागवत १।११।२२

भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया क्योंकि वे स्वयं धर्मरूप थे। तीर्थ का प्रवर्तन किया क्योंकि वे स्वयं तीर्थंकर थे, यह सब कुछ सत्य है किन्तु उन्होंने प्रजा को संसार में जीने का उपाय भी बताया। (मध्य एशिया और पंजाब में जैन धर्म)।

''अश्वघोष के बुद्धचरित में शिव का 'वृषध्वज' तथा 'भव' के रूप में उल्लेख हुआ है, भारतीय नाट्यशास्त्र में शिव को 'परमेश्वर' कहा गया है। उनकी 'त्रिनेत्र' 'वृषांक' तथा 'नटराज' उपाधियों की चर्चा है। वे नृत्यकला के महान् आचार्य हैं और उन्होंने ही नाट्यकला को ताण्डव दिया। वह इस समय तक महान् योगाचार्य के रूप में ख्यात हो चुके थे तथा इसमें कहा गया है कि उन्होंने ही भरतपुत्रों को सिद्धि सिखाई। अन्त में शिव के त्रिपुरध्वंस का भी उल्लेख किया गया है और बताया गया है कि ब्रह्मा के आदेश से भरत ने 'त्रिपुरदाह' नामक एक डिम (रूपक का एक प्रकार) भी रचा था और भगवान् शिव के समक्ष उसका अभिनय हुआ था। जैन ग्रन्थों में वर्णित अप्सरा नीलांजना का ऋषभदेव की राज्यसभा में नृत्य का प्रसंग उपरोक्त वर्णन से समानता दर्शाता है।''

''पुराणों में शिव का पद बड़ा ही महत्त्वपूर्ण हो गया है। यहाँ वह दार्शनिकों के ब्रह्मा हैं, आत्मा हैं, असीम हैं और शाश्वत हैं। वह एक आदि पुरुष हैं, परम सत्य हैं तथा उपनिषदों एवं वेदान्त में उनकी ही महिमा का गान किया गया। बुद्धिमान और मोक्षाभिलाषी इन्हीं का ध्यान करते हैं। वह सर्व हैं, विश्वव्यापी हैं, चराचर के स्वामी हैं तथा समस्त प्राणियों में आत्मरूप से बसते हैं। वह एक स्वयंभू हैं तथा विश्व का सृजन, पालन एवं संहार करने के कारण तीन रूप धारण करते हैं। उन्हें महायोगी, तथा योगविद्या का प्रमुख माना जाता है। सौर तथा वायु पुराण में शिव की एक विशेष योगिक उपासना विधि का नाम 'माहेश्वर योग' है। इन्हें इस रूप में 'यंती', 'आत्म-संयमी ब्रह्मचारी' तथा 'ऊर्ध्वरिताः' भी कहा गया है। शिवपुराण में शिव का आदि तीर्थंकर वृषभदेव के रूप में अवतार लेने का उल्लेख है। प्रभासपुराण में भी ऐसा ही उल्लेख उपलब्ध होता है।''

रामायण (बालकाण्ड ४६।६ उत्तराकाण्ड) में भी शिव की हर तथा वृषभध्वज इन दो नवीन उपाधियों का उल्लेख मिलता है। महाभारत में शिव को परब्रह्म, असीम, अचिंत्य, विश्वस्रष्टा, महाभूतों का एकमात्र उद्गम, नित्य और अव्यक्त आदि कहा गया है। एक स्थल पर उन्हें सांख्य के नाम से अभिहित किया गया है और अन्यत्र योगियों के परम पुरुष नाम से। वह स्वयं महायोगी हैं और आत्मा के योग तथा समस्त तपस्याओं के ज्ञाता हैं। एक स्थल पर लिखा है कि शिव को तप और भक्ति द्वारा ही पाया जा सकता है अनेक स्थलों पर विष्णु के लिये प्रयुक्त की गई योगेश्वर की उपाधि इस तथ्य का द्योतक है कि विष्णु की उपासना में भी योगाभ्यास का समावेश हो गया था, और कोई भी मत इसके वर्तमान महत्व की उपेक्षा नहीं कर सकता था। (महाभारत : द्रोणपर्व वनपर्व)

विमलसूरि के 'पउमचरिउं' के मंगलाचरण के प्रसंग में एक जिनेन्द्र रुद्राष्टक का उल्लेख हुआ है जिसमें भगवान् का रुद्र के रूप में स्तवन किया गया है और बताया गया है कि जिनेन्द्र रुद्र पाप रूपी अन्धकासुर के विनाशक हैं, काम, लोभ एवं मोहरूपी त्रिपुर के दाहक हैं, उनका शरीर तप रूपी भस्म से विभूषित है, संयमरूपी वृषभ पर वह आरूढ़ हैं, संसार रूपी करी (हाथी) को विदीर्ण करने वाले हैं, निर्मल बुद्धिरूपी चन्द्ररेखा से अलंकृत हैं, शुद्धभावरूपी कपाल से सम्पन्न हैं, व्रतरूपी स्थिर पर्वत (कैलाश) पर निवास करने वाले हैं, गुण-गुण रूपी मानव-मुण्डों के मालाधारी हैं, दस धर्मरूपी खट्वांग से युक्त हैं, तपःकीर्ति रूपी गौरी से मण्डित हैं, सात भय रूपी उद्दाम डमरू को बजानेवाले हैं, अर्थात् वह सर्वथा

भीतिरहित हैं, मनोगुप्ति रूपी सर्प परिकर से वेष्टित हैं, निरन्तर सत्यवाणी रूपी विकट जटा-कलाप से मण्डित हैं तथा हुंकार मात्र से भय का विनाश करने वाले हैं।

''आचार्य वीरसेन स्वामी ने धवला टीका में अर्हन्तों का पौराणिक शिव के रूप में उल्लेख किया है और कहा है कि अर्हन्त परमेष्ठी वे हैं जिन्होंने मोह रूपी वृक्ष को जला दिया है, जो विशाल अज्ञानरूपी पारावार से उत्तीर्ण हो चुके हैं। जिन्होंने विघ्नों के समूह को नष्ट कर दिया है, जो सम्पूर्ण बाधाओं से निर्मुक्त हैं, जो अचल हैं, जिन्होंने कामदेव के प्रभाव को दलित कर दिया है, जिन्होंने त्रिपुर अर्थात् मोह, राग, द्वेष को अच्छी तरह से भस्म कर दिया है। जिन्होंने सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र रूपी त्रिशूल को धारण करके मोहरूपी अन्धकासुर के कबन्धवृन्द का हरण कर लिया है तथा जिन्होंने सम्पूर्ण आत्मरूप को प्राप्त कर लिया है।''

''महाकवि पुष्पदन्त ने भी अपने महापुराण में एक स्थल पर भगवान् वृषभदेव के लिये रुद्र की ब्रह्मा-विष्णु-महेश रूपी त्रिमूर्ति से सम्बन्धित अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है। भगवान् का यह एक स्तवन है जिसे उनके केवलज्ञान होने के बाद इन्द्र ने प्रस्तुत किया है। जिसमें उन्होंने भगवान् के लिये कहा है कि वे शान्त हैं, शिव हैं, अहिंसक हैं, राजन्य वर्ग उनके चरणों की पूजा करता है। परोपकारी हैं, भय दूर करने वाले हैं, वामाविमुक्त हैं, मिथ्यादर्शन के विनाशक हैं, स्वयं बुद्ध रूप से सम्पन्न हैं, स्वयंभू हैं, सर्वज्ञ हैं, सुख तथा शान्तिकारी शंकर हैं, चन्द्रधर हैं, सूर्य हैं, रुद्र हैं, उग्र तपस्यों में अग्रगामी हैं, संसार के स्वामी हैं, तथा उसे उपशान्त करने वाले हैं, महादेव हैं...... प्रलयकाल के लिये उग्रकाल हैं, गणेश (गणधरों के स्वामी) हैं, गणपतियों (वृषभसेन आदि गणधरों) के जनक हैं, ब्रह्म हैं, ब्रह्मचारी हैं, वेदांगवादी हैं, कमलयोनि हैं, पृथ्वी का उद्धार करने वाले आदि वराह हैं, हिरण्य गर्भ हैं, परमानन्द चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य) से सुशोभित हैं। खजुराहो के इस संस्तवन से यह प्रतीत होता है कि भगवान् वृषभदेव के रूप में शिव के त्रिमूर्ति तथा बुद्ध रूप को भी समन्वित कर लिया गया। १००० ई० के शिलालेख नम्बर ५ में शिव का एकेश्वर रूप में तथा विष्णु बुद्ध और जिन का उन्हीं के अवतारों के रूप में उल्लेख किया जाना इसी तथ्य की पुष्टि करता है।''

वैदिक परम्परा में शिव का वाहन वृषभ (बैल) बतलाया गया है। जैन मान्यतानुसार भगवान् वृषभदेव का चिह्न बैल है। गर्भ में अवतरित होने के समय इनकी माता मरूदेवी ने स्वप्न में एक वरिष्ठ वृषभ को अपने मुख-कमल में प्रवेश करते हुए देखा था, अतः इनका नाम वृषभ रखा गया। सिन्धुघाटी में प्राप्त वृषभांकित मूर्तियुक्त मुद्राएँ तथा वैदिक युक्तियाँ भी वृषभांकित वृषभदेव के अस्तित्व की समर्थक हैं। इस प्रकार वृषभ का योग शिव तथा वृषभदेव के ऐक्य को सम्पुष्ट करता है।

जैनाचार्य हेमचन्द्र सूरि ने सोमेश्वर के शिव मन्दिर में जाकर महादेव स्त्रोत की रचना कर शिव की रागद्वेष रहित निर्विकार वीतराग सर्वज्ञदेव के रूप में स्तुति की थी। ऋषभ शिव कैसे बने इस विषय पर ईशान संहिता में लिखा है -

माघ वदि त्रयोदश्यादि देवो महानिशि। शिवलिंग तयोभूतः कोटिसूर्य समप्रभः ।।

अर्थात्- माघ वदि त्रयोदशी की महानिशा को आदि देव ऋषभ करोड़ों सूर्यों के समान प्रकाशमान शिवलिंग के रूप में प्रकट हुए। शिवपुराण में भी लिखा है–

''इत्थं प्रभवः ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे। सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तु नः।।''

- शिवपुराण ४।४९

मुझे शंकर का ऋषभ अवतार होगा। वह सज्जन लोगों की शरण और दीनबन्धु होगा तथा उसका अवतार नवां होगा।

जैन तीर्थंकरो में केवल ऋषभदेव की मूर्तियों के शिर पर कुटिल केशों का रूप दिखाया जाता है और वही उनका विशेष लक्षण भी माना जाता है। इसीलिये ऋषभदेव को केशरिया नाथ भी कहा जाता है। शिव के शिर पर भी जटाजूट कंधों पर लटकते केश ऋषभ और शिव की समानता को दर्शाते हैं। अतः निःसन्देह रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि ऋषभदेव और शिव नाम मात्र से ही भिन्न हैं वास्तव में भिन्न नहीं हैं। इसीलिये शिव पुराण में २८ योग अवतारों में ९ वाँ अवतार ऋषभदेव को स्वीकार किया गया है।

उत्तरवैदिक मान्यता के अनुसार जब गंगा आकाश से अवतीर्ण हुई तो दीर्घकाल तक शिवजी के जटा-जूट में भ्रमण करती रही और उसके पश्चात् वह भूतल पर अवतरित हुई। यह एक रूपक है, जिसका वास्तविक रहस्य यह है कि जब शिव अर्थात् भगवान् ऋषभदेव को असर्वज्ञदशा में जिस स्वंसवित्तिरूपी ज्ञान-गंगा की प्राप्ति हुई उसकी धारा दीर्घकाल तक उनके मस्तिष्क में प्रवाहित होती रही और उनके सर्वज्ञ होने के पश्चात् यही धारा उनकी दिव्य वाणी के मार्ग से प्रकट होकर संसार के उद्धार के लिए बाहर आई तथा इस प्रकार समस्त आर्यावर्त को पवित्र एवं आप्लावित कर दिया।

जैन भौगोलिक मान्यता में गंगानदी हिमवान् पर्वत के पद्मनामक सरोवर से निकलती हैं। वहाँ से निकलकर वह कुछ दूर तक तो उपर ही पूर्वदिशा की ओर बहती है, फिर दक्षिण की ओर मुड़कर जहाँ भूतल पर अवतीर्ण होती है, वहाँ पर नीचे गंगाकूट में एक विस्तृत चबूतरे पर आदि जिनेन्द्र वृषभनाथ की जटाजूट वाली अनेक वज्रमयी प्रतिमाएँ अवस्थित हैं, जिन पर हिमवान् पर्वत के उपर से गंगा की धारा गिरती है। विक्रम की चतुर्थ शताब्दी के महान् जैन आचार्य यतिवृषभ ने त्रिलोकप्रज्ञप्ति में प्रस्तुत गंगावतरण का इस प्रकार वर्णन किया है :

''आदिजिणप्पडिमाओ ताओ जढ-मुउढ-सेहरिल्लाओ।
पडिमोवरिम्मि गंगा अभिसित्तुमणा व सा पढदि।।''

अर्थात गंगाकूट के ऊपर जटारूप मुकुट से शोभित आदि जिनेन्द्र (वृषभनाथ भगवान्) की प्रतिमाएँ हैं। प्रतीत होता है कि उन प्रतिमाओं का अभिषेक करने की अभिलाषा से ही गंगा उनके उपर गिरती है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी प्रस्तुत गंगावतरण की घटना का निम्न प्रकार चित्रण किया है :

''सिरिगिहसीसट्ठियंबुजकण्णियसिंहासणं जडामएलं।
जिणमभिसिक्षुमणा वा ओदिण्णा मत्थए गंगा।।''

अर्थात् श्री देवी के गृह के शीर्ष पर स्थिति कमल की कर्णिका के उपर सिंहासन पर विराजमान जो जटारूप मुकुट वाली जिनमूर्ति है, उसका अभिषेक करने के लिए ही मानों गंगा उस मूर्ति के मस्तक पर हिमवान् पर्वत से अवतीर्ण हुई है।

वैदिक परम्परा में शिव को त्रिशूलधारी बतलाया गया है तथा त्रिशूलांकित शिवमूर्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। जैनपरम्परा में भी अर्हन्त की मूर्तियों को रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र) के प्रतीकात्मक त्रिशूलांकित त्रिशूल से सम्पत्र दिखलाया गया है। आचार्य वीरसेन ने एक गाथा में त्रिशूलांकित अर्हन्तों को नमस्कार किया है। सिन्धु उपत्यका से प्रात्य मुद्राओं पर भी कुछ ऐसे योगियों की मूर्तियाँ अंकित हैं, कुछ मूर्तियाँ वृषभचिह्न से अंकित हैं। मूर्तियों के ये दोनों रूप महान् योगी वृषभदेव से सम्बन्धित हैं। इसके अतिरिक्त खण्डगिरि की जैन गुफाओं (ईसापूर्व द्वितीय शताब्दी) में तथा मथुरा के कुशाणकालीन जैन आयागपट्ट आदि में भी त्रिशूलचिह्न का उल्लेख मिलता है। डॉ. रोठ ने इस त्रिशूल चिह्न तथा मोहनजोदड़ो की मुद्राओं पर अंकित त्रिशूल में आत्यन्तिक सादृश्य दिखालाया है।

⁂ ऋषभदेव तथा शिव-सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ :

ऋषभदेव ने सबसे पहले क्षात्रधर्म की शिक्षा दी। महाभारत के शांतिपर्व में लिखा है कि-क्षात्रधर्म भगवान् आदिनाथ से प्रवृत्त हुआ और शेष धर्म उसके पश्चात् प्रचालित हुए। यथा-

क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात् प्रवृत्त;। पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्म्म।।

–महाभारत शांतिपर्व १६।६४।२०

बह्माण्ड पुराण (२।१४) में प्रार्थिवश्रेष्ठ ऋषभदेव को सब क्षत्रियों का पूर्वज कहा है ।

प्रजाओं का रक्षण क्षात्रधर्म है, अनिष्ट से रक्षा तथा जीवनीय उपायों से प्रतिपालन ये दो गुण प्रजापति ऋषभदेव में विद्यमान थे। उन्होंने स्वयं दोनों हाथों में शस्त्र धारण कर लोगों को शस्त्रविद्या सिखाई। शस्त्र शिक्षा पाने वालों को क्षत्रिय नाम भी प्रदान किया। क्षत्रिय का अन्तर्निहित भाव वही था। उन्होंने सिर्फ शास्त्र विद्या की शिक्षा ही नहीं दी अपितु सर्वप्रथम क्षत्रिय वर्ण की स्थापना भी की थी।

ऋषभदेव का यह वचन अधिक महत्त्वपूर्ण है कि केवल शत्रुओं और दुष्टों से युद्ध करना ही क्षात्रधर्मं नहीं है अपितु विषय, वासना, तृष्णा और मोह आदि को जीतना भी क्षात्रधर्म है। उन्होंने दोनों काम किये। शायद इसी कारण आज क्षत्रियों को अध्यात्म विद्या का पुरुस्कर्ता माना जाता है। जितना और जैसा युद्ध बाह्य शत्रुओं को जीतने के लिये अनिवार्य है, उससे भी अधिक मोहादि अन्तर्शत्रुओं को जीतने के लिऐ अनिवार्य है। ऋषभदेव ने सारी पृथ्वी-समुद्रों पर राज्य किया, सारे विश्व को व्यवस्थित किया और फिर मोहादि शत्रुओं का विनाश करने में भी विलम्ब नहीं किया। आचार्य समन्तभद्र ने नीचे लिखे श्लोक में बड़ा ही भाव-भीना वर्णन किया है-

''विहाय यः सागर-वारि-वाससं वधूमिवेमां वसुधाँ वधूं सतीम।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकु कुलादिरात्मवान् प्रभु प्रव्राज सहिष्णुरच्युतः।।''

- स्वयंभू स्तोत्र १।३

अर्थात्- समुद्र जल ही है किनारा जिसका (समुद्र पर्यन्त विस्तृत) ऐसी वसुधारूपी सती वधू को छोड़कर मोक्ष की इच्छा रखने वाले इक्ष्वाकुवंशीय आत्मवान् सहिष्णु और अच्युत प्रभु ने दीक्षा ले ली।

उन्होंने अपने आन्तरिक शत्रुओं को अपनी समाधि तेज से भस्म कर दिया और केवलज्ञान प्राप्त कर अचिंत्य और तीनों लोकों की पूजा के स्थान स्वरूप अर्हत् पद प्राप्त किया। तात्पर्य यह है कि क्षत्रिय का अर्थ केवल सांसारिक विजय ही नहीं है अपितु आध्यात्मिक विजय भी है।

वे चतुर्वर्णी (क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और बाह्मण) व्यवस्था के सूत्रधार बने। चाणक्य की अर्थनीति में जिस चतुर्वर्ण व्यवस्था पर अधिकाधिक बल दिया गया है, वह ऋषभदेव से प्रारम्भ हो चुकी थी।

भोगभूमि के बाद कर्मभूमि के प्रारम्भ में धरा और धरावासियों की आवश्यकताओं के समाधान के लिए ऋषभदेव ने जिस घोर परिश्रम का परिचय दिया वही परिश्रम आत्मविद्या के पुरस्कर्ता होने पर भी किया। वे श्रमण आर्हत् धारा के आदि प्रवर्तक कहे जाते हैं। भागवतकार ने उन्हें नाना योगचर्याओं का आचरण करने वाले कैवल्यपति की संज्ञा तो दी ही है। (भागवत ५।६।६४) तथा साथ ही उन्हें वातरशना (योगियों), श्रमणों, ऋषियों और ऊर्ध्वगामी (मोक्षगामी) मुनियों के धर्म का आदि प्रतिष्ठाता और श्रमण धर्म का प्रवर्तक माना है (भागवत ५।४।२०)

यहाँ श्रमण से अभिप्राय- **''श्राम्यति तपक्लेशं सहते इति श्रमणः''** अर्थात् जो तपश्चरण करें वे श्रमण हैं। श्री हरिभद्र सूरि ने दशवैकालिक की टीका में लिखा है कि- **''श्राम्यन्तीति श्रमणः तपस्यन्तीत्यर्थः।''**

(१।३) इसका अर्थ है जो श्रम करता है, कष्ट सहता है, तप करता है वह तपस्वी श्रमण है। भागवत ने वातरशना योगी, श्रमण, ऋषि को ऊर्ध्वगामी कहा है। ऊर्ध्वगमन जीव का स्वभाव है किन्तु कर्मों का भार उसे बहुत ऊँचाई तक नहीं जाने देता। जब जीव कर्मबन्धन से नितांत मुक्त हो जाता है तब अपने स्वभावानुसार लोक के अन्त तक ऊर्ध्वगमन करता है। जैसा कि तत्त्वार्थ सूत्र में कथन है कि-**तदनन्तरमूर्ध्व गच्छत्या लोकान्तात्** (१०।५) अर्थात् सम्पूर्ण कर्मों के क्षय होने के बाद तुरन्त ही मुक्तजीव लोक के अन्त तक ऊँचे जाता है। जैन शास्त्रों में जहाँ भी मोक्षतत्त्व का वर्णन आया है वहाँ पर मुक्तजीव के ऊर्ध्वगमन का विस्तार से वर्णन मिलता है। इसी संदर्भ में वैदिक ऋषियों ने वातरशना श्रमण के लिए ही किया है। और ऋषभदेव को इसका प्रवर्तक कहा है। अतः ऋषभदेव जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर थे यह वैदिक साहित्य भी स्वीकार करता है।

यतीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय के अनुसार जो नाथ सम्प्रदाय का आरम्भ हुआ वह जैनियों के तीर्थंकर और उनके शिष्य सम्प्रदाय से हुआ। मीननाथ के गुरु थे आदिनाथ अर्थात् ऋषभनाथ।

''जैन मान्यतानुसार ज्योतिष, गणित, व्याकरण आदि के प्रथम ज्ञाता तीर्थंकर ऋषभदेव हैं। इस विषय में वैद्य प्रकाश चन्द्र पांड्या ने अपने लेख 'जैन ज्योतिष की प्राचीनत्वता' में लिखा है कि ''ऋग्वेद में ऋषभ का उल्लेख अनेक जगहों में आया है और उनको पूर्णतः ज्योतिषी बतलाया है''।

''प्रे होत्रे पूर्व्यव चोडग्नये भरता वृहत।
विपी ज्योतिषी विभ्रते न वेधसे।।५।।७।।''

-ऋग्वेद मं ३ अ० १ सूत्र १०

ऋग्वेद के उक्त मंडल के आगे पीछे के अन्य सूत्रों और प्रसंग को देखते हुए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ऋग्वेद की यह ऋचा ऋषभ या वृषभ के लिये रची गयी है। उन्होंने ७२ विद्याएँ सिखाईं उनमें ज्योतिषी विद्या भी एक विद्या थी। इसीलिये वैदिक ऋषि वृषभ की वंदना करते हुए ऋग्वेद में लिखते हैं —

''आ नो गोत्रा दर्द्धहि गो पते गाः समस्मभ्यं सु नयो यंतुवाजा
दिवक्षा अति वृषभ सत्य शुष्मोडस्मभ्यं सु मघवन्बोधि गोदा ः।।२१।।''

-ऋग्वेद, मंडल ३ अ० २ सू० ३०

अर्थात् - हे पृथ्वी के पालक देव। हमें नय सहित वाणियों को प्रदान कर आदरयुक्त बना, जिससे हम अपनी वृत्तियों और इन्द्रियों को संयत रख सकें। हे वृषभ तू सूर्य के समान सब दिशाओं में प्रकाशमान है और तू सत्य के कारण बलवान है। हे ऐश्वर्यमय माघवन ! हमें सुबोधि प्रदान कर।

बौद्धों के धर्मकीर्ति द्वारा रचित प्रख्यात ग्रन्थ **'न्यायबिन्दु'** में जैन तीर्थंकर भगवान् ऋषभ और महावीर आदि को ज्योतिष-ज्ञान में पारगामी होने के कारण सर्वज्ञ लिखा है-

''यः सर्वज्ञ आप्तो वास ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टावान्।
तद्यथा ऋषभ वर्धमानादिरिति।।''

''इस प्रकार जैनेतर साहित्य के अनुसार आदि ज्योतिषी भगवान् वृषभ या ऋषभ सिद्ध हो जाते हैं। जैन-पुराणों और कथाओं के आधार पर तो वे पूर्णतः ज्योतिषज्ञ हैं। जिनसेनाचार्य के ''आदि पुराण'' के अनुसार जो हालांकि वेदों से बाद की रचना है, वृषभ या ऋषभ के पुत्र भरत को एक बार रात को सोलह स्वप्न आये थे और उन स्वप्नों का जब अर्थ भरत ठीक-ठाक लगाने में असमर्थ रहे, यद्यपि वे

स्वयं ज्योतिर्विद थे फिर भी वे अपनी बेचैनी को शान्त करने के लिए पिता के पास कैलाश पर्वत पर पहुँचे और उनसे उन स्वप्नों का अर्थ समझाने की प्रार्थना की। भगवान् ऋषभदेव ने उन स्वप्नों का जो स्पष्टीकरण किया और भविष्यवाणी की वह वास्तव में स्तब्ध कर देने वाली है और यह सोचने और विचारने को बाध्य कर देने वाली है कि हजारों वर्षों पहले ही स्वप्नों के आधार पर भविष्य-वाणी भारत में होने लग गई थी। उनका वह स्वप्न-भविष्य कितना सत्य था आश्चर्य होता है।'' (जैन ज्योतिष के प्राचीनतमत्व पर संक्षिप्त विवेचन)

जैन वाङ्मय में आयुर्वेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। बारह अंगों में अन्तिम अंग दृष्टिवाद में प्राणवाय एक पूर्व माना गया है जो आज अनुपलब्ध है। स्थानांगसूत्र, समवायांगसूत्र, नन्दीसूत्र आदि में इसका उल्लेख मिलता है। इस प्राणवाय नामक पूर्व में अष्टांगायुर्वेद का वर्णन है। जैन मत से आयुर्वेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पं. व्ही. पी. शास्त्री ने उग्रादित्याचार्य कृत ''कल्याणककारक'' के सम्पादकीय में लिखा है कि इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में महर्षि ने प्राणावाय शास्त्र की उत्पत्ति के विषय में प्रमाणिक इतिहास लिखा है । ग्रन्थ के आदि में श्री आदिनाथ स्वामी को नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् प्राणावाय का अवतरण कैसे हुआ और उसकी स्पष्टतः जनसमाज तक परम्परा कैसे प्रचलित हुई इसका स्पष्ट रूप से वर्णन ग्रन्थ के प्रस्ताव अंश में किया गया है जो इस प्रकार है—

श्री ऋषभदेव के समवसरण में भरत चक्रवर्ती आदि भव्यों ने पहुँचकर श्री भगवन्त की सविनय वन्दना की और भगवान् से निम्नलिखित प्रकार से पूछने लगे—

''ओ स्वामिन ! पहले भोग भूमि के समय मनुष्य कल्पवृक्षों से उत्पन्न अनेक प्रकार के भोगोपभोग सामग्रियों से सुख भोगते थे। यहाँ भी खूब सुख भोगकर तदनन्तर स्वर्ग पहुँचकर वहाँ भी सुख भोगते थे। वहाँ से फिर मनुष्य भव में आकर अपने-अपने पुण्यकर्मों के अनुसार अपने-अपने इष्ट स्थानों को प्राप्त करते थे। भगवन् ! अब भारतवर्ष को कर्मभूमि का रूप मिला है। जो चरम शरीरी हैं व जन्म लेने वाले हैं उनको तो अब भी अपमरण नहीं है। इनको दीर्घ आयुष्य प्राप्त है। परन्तु ऐसे भी बहुत से मनुष्य पैदा होते हैं जिनकी आयु नहीं रहती और उनको वात, पित्त, कफादि दोषों का उद्वेग होता रहता है। उनके द्वारा कभी शीत और कभी उष्ण व कालक्रम से मिथ्या आहार सेवन करने में आता है। जिससे अनेक प्रकार के रोगों से पीडित होते हैं। इसलिये उनके स्वास्थ रक्षा के लिये योग्य उपाय बतायें। इस प्रकार भरत के प्रार्थना करने पर आदिनाथ भगवान् ने दिव्य-ध्वनि के द्वारा लक्षण, शरीर, शरीर के भेदों, दोषोत्पत्ति, चिकित्सा, काल भेद आदि सभी बातों का विस्तार से वर्णन किया।''

इस प्रकार दिव्यवाणी के रूप में प्रकट समस्त परमार्थ को साक्षात् गणधर ने प्राप्त किया। उसके बाद गणधर द्वारा निरूपित शास्त्र को निर्मल बुद्धि वाले मुनियों ने प्राप्त किया। इस प्रकार श्री ऋषभदेव के बाद यह शास्त्र तीर्थंकर महावीर तक चलता रहा।

दिव्यध्वनी प्रकटितं परमार्थजातं साक्षातया गणधरोऽधिजगे समस्तम्।
पश्चात् गणाधिपते निरुपित वाक्यप्रपंचमष्टाधी निर्मलधियों मुनयोऽधिजग्मुः।।
एवंजिनातंर निबन्धनसिद्धमार्गादायातमापतमनाकुलमर्थगाढम्।
स्वायांभुवं सकलमेव सनातनं तत् साक्षाच्छुतश्रुतदलैः श्रुत केवलीभ्य।।

स्पष्ट है कि तीर्थंकरों ने प्राणावाय परम्परा का ज्ञान प्रतिपादित किया। फिर गणधरों प्रतिगणधरों, श्रुतकेवलियों, मुनियों ने सुनकर प्राप्त किया।

-जैन आयुर्वेद - एक परिचय - अर्हत वचन, वर्ष - १२, अंक -३

'व्रात्य' 'प्रजापति' 'परमेष्ठी' 'पिता' और 'पितामह' है। विश्व व्रात्य का अनुसरण करता है। श्रद्धा से जनता का हृदय अभिभूत हो जाता है। व्रात्य के अनुसार श्रद्धा, यज्ञ, लोक और गौरव अनुगमन करते हैं। व्रात्य राजा हुआ। उससे राज्यधर्म का श्रीगणेश हुआ। प्रजा, बन्धुभाव, अभ्युदय और प्रजातन्त्र सभी का उसी से उदय हुआ। व्रात्य ने सभा, समिति, सेना आदि का निर्माण किया।

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्ष भृत्वानुव्यवर्तयन्तः। एनं श्रद्धा गच्छति एनं यज्ञो गच्छति एनं लोको गच्छति। सोऽरज्यत् ततो राजन्योऽजायत, स विश्वः स बन्धूभयघमभ्युदतिष्ठित्।।

इन शब्दों द्वारा भगवान् ऋषभदेव का प्रारम्भिक परिचय दिया गया है। कृषि, मसि, असि, कर्मयोग का व्याख्यान व्रात्य ने दिया। अयोध्या पूर्व की राजधानी है और ऋषभदेव की जन्मभूमि। फिर ऋषभदेव के सन्यास, तप, विज्ञान और उपदेश सभी का यथाक्रम वर्णन है। व्रात्य ने तप से आत्म-साक्षात्कार किया। सुवर्णमय तेजस्वी आत्मा का लाभ प्राप्त कर व्रात्य महादेव बन गये। (य महादेवोऽभूत) व्रात्य पूर्व की ओर गये, पश्चिम की ओर गये, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं को ओर उन्मुख हुए। चारों और उनके ज्ञान, विज्ञान का अलोक फैला। विश्व श्रद्धा के साथ उनके सामने नत्मस्तक हो गया।

स्वयं ऋग्वेद में भगवान् ऋषभदेव से प्रार्थना की गई है : **"आदित्य त्वमसि आदित्य सद् आसीत् अस्तभ्रादधां वृषभो अंतरिक्षं जमिते वरिमागम पृथिका आसीत विश्व भुवनानी सम्राट् विश्वेतानि वरुणस्य वचनानि"** ? ऋग्वेद ३०, अ. ३) "अर्थात् हे ऋषभदेव ! सम्राट् ! संसार में जगतरक्षक व्रतों का प्रचार करो। तुम ही इस अखण्ड पृथ्वी के आदित्य सूर्य हो, तुम्हीं त्वचा और साररूप हो, तुम्हीं विश्वभूषण हो और तुम्हीं ने अपने दिव्यज्ञान से आकाश को नापा है।"

"इस मंत्र में वरूण वचन से व्रतों का संकेत किया गया है। वास्तव में व्रतों के उद्गाता भगवान् ऋषभदेव ही थे। इस तथ्य को वेद ने नहीं, मनु ने भी स्वीकार किया है। यद्यपि मनुस्मृति में उन्हें वैवस्वत, सत्यप्रियव्रत, अग्निप्रभनाभि और ईर्श्वाकु (ऋषभदेव) को छट्ठा मनु स्वीकार किया है और वेदकालीन दूसरी सूची में उन्हें वैवस्वत-वेन-घृष्णु बताया गया है। जैन आगमों में १४ मनुओं के स्थान पर सात कुलकरों का वर्णन प्राप्त होता है और उसमें सातवें कुलकर का नाम नाभि और ऋषभदेव बताया गया है। इस प्रकार वेदों के आधार पर यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि व्रात्य सम्प्रदाय के मूल संस्थापक और भारतीय संस्कृति के प्रतिष्ठापक भगवान् ऋषभदेव थे। कहने का सारांश इतना है कि ऋषभदेव ने व्रात्य धर्म, त्याग धर्म और परहंस धर्म का प्रतिपादन किया, जिसका समानार्थी अविकल और अक्षुण्ण रूप जैन धर्म है। जैनधर्म और व्रात्यधर्म दोनों पर्यायवाची हैं।" -इतिहास के अनावृत पृष्ठ आचार्य सुशील मुनिजी

विमलसूरि ने अपने पउमचरिउं में लिखा है कि मूलतः चार वंश प्रसिद्ध थे। जिनकी उत्पत्ति ऋषभदेव से हुई। ऋषभदेव ने बाल्यावस्था में इक्षुदंड कुतूहल से हाथ में लिया जिससे उनका इक्ष्वाकु वंश कहलाया। उनके पुत्र भरत से आदित्ययशा, सिंहयशा, बलभद्र, वसुबल, महाबल आदि अनेक राजा इक्ष्वाकु वंश में हुए। आदित्ययशा के नाम से आदित्य अर्थात् सूर्यवंशी कहलाये। ऋषभदेव के दूसरे पुत्र सोमप्रभ के नाम से सोमवंश या चंद्र वंश की उत्पत्ति हुई। ऋषभदेव के पौत्र नमी और विनमी के द्वारा विद्याधर वंश बना। ये विधाओं से सम्पन्न थे इसलिये इन्हें विद्याधर कहा गया। विद्याधर वंशों के राजा से बचने के लिये राजा भीम ने एक महान् द्वीप में लंका नगरी की स्थापना की और इस द्वीप को राक्षस द्वीप कहा गया और उसके राजा को महाराक्षस। इस वंश में मेघवाहन हुआ जिसके पुत्र का नाम राक्षस था जो इतना पराक्रमी था कि उसके पूरे वंश को ही राक्षस नाम प्राप्त हुआ। अहमिन्द्र नामक विद्याधर राजा ने भी कण्ठ नामक पुत्र को लंकापति कीर्तिधवल ने लवणसागर के द्वीप में बसाया। जहाँ वानरों की बहुतायत थी। अतः इस द्वीप में रहने वालों को वानर कहा जाने लगा और उनका वंश वानर वंश कहलाया। पउमचरिउं

में लिखा है कि जिस प्रकार खड्ग से खड्गधारी, घोड़े से घुड़सवार, हाथी से हस्तिपाल, इक्षु से इक्ष्वाकु, विद्या से विद्याधर वंश होता है उसी तरह वानरों के चिह्न से वानरों का वंश अभिव्यक्त होता है। चूँकि वानर के चिह्न से लोगों ने छत्र आदि अंकित किये थे इसलिए वे विद्याधर वानर कहलाए। इस प्रकार ऋषभदेव से इक्ष्वाकु वंश, सूर्य वंश, चन्द्रवंश और विद्याधर वंश जिसके अन्तर्गत राक्षस और वानर वंश की उत्पत्ति हुई।

ऋषभ का अर्थ 'श्रेष्ठ' होता है। 'ऋषि गती' धातु से ऋषभ का अर्थ गतिशील भी है। ऋषभदेव वस्तुतः प्रत्येक कुशल कर्म के विकास पथ पर गतिशील रहे, अग्रणी रहे, श्रेष्ठ रहे। ऋषभ शब्द गंभीर, स्पष्ट एवं मधुर नाद का वाचक भी है जो सप्तस्वरों में से एक है। ऋषभ का एक महत्त्वपूर्ण अर्थ ज्ञाता दृष्टा भी है। 'ऋ' का अर्थ आया हुआ, 'ष' का अर्थ श्रेष्ठ तथा 'भ' का अर्थ है ग्रह या नक्षत्र। अतः ऋषभ का अर्थ हुआ श्रेष्ठ नक्षत्रों में आया हुआ। जैन पुराण के अनुसार ऋषभदेव के दायें जंघा में बैल का चिन्ह होने से उनका वृषभ नाम भी व्यवहारित हुआ।

''उत्तराध्ययन २५ श्लोक ६ में काश्यप को धर्म का आदि प्रवर्तक बताया गया है। भगवान् ऋषभ आदि काश्यप हैं उन्हें धर्म की अनेक धाराओं के आदि स्रोत के रूप में खोजा जा सकता है। यह विषय अभी तक अज्ञात रहा है। इस विषय में अनुसंधान आवश्यक है। (आचार्य महाप्रज्ञ जी)

भगवान् ऋषभदेव ने चैत्यकृष्णा अष्टमी के दिन चंद्र के उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के साथ योग होने पर अपराह्न काल में दीक्षा ग्रहण की थी। हेमचन्द्राचार्य ने इस विषय में लिखा है-

तदा चं चैत्रबहुलाष्टम्यां चन्द्रमसिश्रिते।
नक्षत्र मुत्तराषाढ़ा महो भागेऽथ पश्चिमे।।६५।।

ऋषभदेव की तक्षशिला यात्रा का वर्णन जैन साहित्य में मिलता है जिनदत्त सूरि रचित पंचानन्द पूजा, आवश्यक निर्युक्ति आदि ग्रन्थों में इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। तक्षशिला में ऋषभदेव के पुत्र बाहुबलि का राज्य था। वहाँ पर ऋषभदेव गये थे। इसका वर्णन पी. सी. दास गुप्ता ने अपने लेख "On Rishabha's visit To Taxila," में किया है। उनके अनुसार The legend Rishabhanan's journey to Taksasila to meet his son Bahubali is indeed incomparable in its glory and significance. In his studies in Jaina Art (Banaras, 1955) Umakant P. Shah has sumed up the story as follows :

"It is said that when Rishabh went to Taksasila, he reached after dusk; Bahubali (ruling at Takshshila) thought of going to pay his homage next morning and pay due respects along with his big retinue. But the Lord went away and from here, travelled through Bahali-Adambailla, Yonaka and preached to the people of Bahali, and to Yanakas and Pahlagas Then he went to Astapada and after several years came to Purimataka near Vinita, Where he obtained Kevalajnana." According to U.P. Shah the relevant verses show that Taksasilla was probably included in the Province of Bahali (Balkh-Bactria) in the age of Avasyaka Niryukti. As regards Risabha's visit it is told that next morning when Bahubali came to know of the Master's departure he "felt disappointed and satisfiled himself only by worshipping the spot where the Lord stood by installing an emblem-the dharmachakra– over it."

जैन धर्म एवं साहित्य में धर्मचक्र का विशेष महत्व हैं। तीर्थंकरों की स्तुति में शक्रेन्द्र ने जो विशेषण और गुण सूचक वाक्य प्रयुक्त किये हैं उनमें **धम्मवर चाउरंत चक्कवट्टीणं** – अर्थात् महावीरादि तीर्थंकर श्रेष्ठ धर्म को चारों ओर फैलाने में धर्मचक्र के प्रवर्त्तक धर्म-चक्रवर्ती होते हैं। उनमें पहले अतिशय में धर्मचक्र का नाम आता है, अर्थात् तीर्थंकर चलते हैं तो उनके आगे-आगे आकाश में देवता धर्मचक्र चलाते रहते हैं। अतः धर्मचक्र तीर्थकरों का महान अतिशय है। अभिधान-चिंतामणी शब्दकोष के प्रथम खण्ड के ६१ वें श्लोक में धर्मचक्र प्रवर्तन किये जाने का उल्लेख किया गया है। प्राचीन समवायांग सूत्र में दस अतिशयों का वर्णन है, उसमें आकाशगत धर्मचक्र भी एक है। भगवान् विहार करते हैं तब आकाश में देदीप्यमान धर्मचक्र चलता है। प्राचीन स्तोत्रों में इसका बड़ा महत्व बतलाया है। उसका ध्यान करने वाले साधक सर्वत्र अपराजित होते हैं–

''जस्सवर धम्मचक्कं दिणयरंबिव न भासुरच्छायं
नेएण पज्जलंतं गच्छइ पुरओ। जिणिंदस्स।।१९।।

ॐ नमो भगवओ महइ महावीर वर्द्धमान सामिस्स जस्सवर धम्मचक्कं जलंतं गच्छइ आयासं पायालं, लोयाणं भूयाणं जूए वा रणे का रायंगणे वावारणे थंभणे मोहेण थंरणे स्तवसताणं अपराजिओ भवामि स्वाहा।

धर्मचक्र का प्रवर्तन कब से चालु हुआ, इस सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में महत्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। इसके अनुसार भगवान् ऋषभदेव छद्मस्थ काल में अपने पुत्र महाराजा बाहुबली के प्रदेश में तक्षशिला वन में आये, उसकी सूचना वनरक्षक ने बाहुबली को दी तो उन्हें बड़ा हर्ष हुआ और वे भगवान् को वंदन करने के लिये जोरों से तैयारी करने लगे। इस तैयारी में संध्या हो जाने से दूसरे दिन प्रातःकाल वे अपने नगर से निकलकर जहाँ रात्रि में भगवान् ऋषभदेव ध्यानस्थ ठहरे थे वहाँ पहुँचे। पर लाव लश्कर के साथ पहुँचने में देरी हो गयी और भगवान् ऋषभदेव तो अप्रतिबद्ध विहारी थे अतः प्रातः होते ही अन्यत्र विहार कर गए, फलतः बाहुबली उनके दर्शन नहीं कर सके। मन में बड़ा दुःख हुआ कि मुझे भगवान् के आगमन की सूचना मिलते ही आकर दर्शन कर लेना चाहिए था। अन्त में जहाँ भगवान् खड़े हुए थे वहाँ की जमीन पर भगवान् के पद चिन्ह बने हुए थे, उन्हीं का दर्शन वंदन करके संतोष करना पड़ा, पद्चिन्हों की रक्षा करने के लिए धर्मचक्र बनवाया गया, सुवर्ण और रत्नमयी हजार आरों वाला धर्मचक्र वहाँ स्थापित किया गया। बाहुबली ने धर्मचक्र और चरण-चिन्हों की पूजा की। इस तरह चरण चिन्हों की पूजा की परम्परा शुरू हुई और पहला धर्मचक्र ऋषभदेव के छद्मस्थ काल में बनवाकर प्रतिष्ठित किया गया।

अष्टोत्तरी तीर्थमाला (अंचलगच्छीय महेन्द्रसूरी रचिता) प्राकृत भाषा की एक महत्वपूर्ण रचना है। १११ गाथाओं की इस रचना में जैन तीर्थों का वर्णन है। उनमें से ५१वीं गाथा में अष्टापद उज्जयन्त, गजाग्रपद के बाद धर्मचक्र तीर्थ का उल्लेख है। गाथा ५६ से ५८ वें तक में धर्मचक्र तीर्थ की उत्पत्ति का विवरण इस प्रकार दिया हुआ है।

तवाल सिलाए उसभो, वियाली आगम्म पडिम्म नुज्जणे।
जा बाहुबली पमाए, एईता विहरिनु भयवं।।५६।।

तोतेहियं सोकारइ जिण पय गणंमि रयणमय पीढ़।
तदुवरि जोयण माणं रयण विणिम्मिय दंडे।।५७।।

तस्सोवरि रयणमय, जोयण परिमण्डल पवर चक्कं।
तं धम्मचक्कतित्थ, भवजल तिहि पवर बोहियं।।४८।।

अंचलगच्छ पट्टावली के अनुसार इस प्राकृत तीर्थमाला के रचयिता महेन्द्र सूरि का जन्म संवत १२२८ दीक्षा १२३७ आचार्य पद १३०९ में हुआ था। वे आचार्य हेमचन्द्र के थोड़े समय बाद ही हुए। आचार्य हेमचन्द्र और महेन्द्रसूरि के लेखन का आधार आवश्यकचूर्णि था जिसमें धर्मचक्र तीर्थ की उत्पत्ति का उपर्युक्त वर्णन है। इसके अतिरिक्त प्राचीन जैन पुरातत्त्व से भी धर्मचक्र की मान्यता का समर्थन होता है। प्राचीनतम मथुरा के आयागपट्ट आदि में धर्मचक्र उत्कीर्णित है । मध्यकाल में भी इसका अच्छा प्रचार रहा। अतः अनेक पाषाण एवं धातु की जैन मूर्तियों के आसन के बीच में धर्मचक्र खुदा मिलता है। अभिधान राजेन्द्र कोष के पृष्ठ २७१५ में धर्मचक्र संबन्धी ग्रन्थों के पाठ दिये हैं । उसके अनुसार प्राचीनतम आचारांग की चूर्णि में 'तक्षशिलायां धर्मचक्र' आदि पाठ है जिसमें धर्मचक्र की स्थापना का तीर्थ तक्षशिला था, सिद्ध होता है। तीर्थकल्प में भी ''तक्षशिलायां बाहुबली विनिर्मितम् धर्मचक्र'' पाठ है। आवश्यक चूर्णि में तीर्थंकर के लिये धम्मचक्कवट्टी लिखा है। अतः परम्परा निःसंदेह काफी प्राचीन सिद्ध होती है।

जैनेद्र सिद्धान्त कोष के भाग २ पृष्ठ ४७५ में दो श्लोक उद्धृत मिले उनमें हजार-हजार आरों वाले धर्मचक्र अलंकृत हो रहे थे। यक्षों के ऊँचे-ऊँचे मस्तक पर रखे हुए धर्मचक्र अलंकृत हो रहे थे। (अगरचन्द नाहटा- धर्मचक्र तीर्थ उत्पत्ति और महिमा—कुशल निर्देश)

ऋषभदेव का प्रथम पारणा अक्षय तृतीया के दिन हुआ था। इसका स्पष्ट लेख आचार्य हेमचन्द्र सूरि द्वारा रचित त्रिषष्टिशलाका पुरुष में मिलता है।

आर्यानार्येषु मौनेन, विहरन् भगवान्पि।
संवत्सरं निराहारश्चिन्तयामासिवानिदम्।।२३८।।

प्रदीपा इव तैलेन, पादपा इव वारिणा।
आहारेणैव वर्तन्ते, शरीराणि शरीरिणाम्।।२३९।।

स्वामी मनसि कृत्यैवं, भिक्षार्थं चलितस्ततः।
पुरं गजपुरं प्राप, पुरमण्डलमण्डनम् ।।२४३।।

दृष्ट्वा स्वामिनमायान्तं, युवराजोऽपि तत्क्षणम्।
अधावत पादचारेण, पत्तीनप्यातिलंघयन् ।।२७७।।

गृहांगणजुषो भर्तुर्लुठित्वा पादपंकजे।
श्रेयांसोऽमार्जयत् केशैर्भ्रमरभ्रमकारिभिः।।२८०।।

ईदृशं क्व मया दृष्टं, लिंगमित्यभिचिन्तयन्।
विवेकशाखिनो बीजं, जातिस्मरणमाप सः।।२८३।।

ततोविज्ञातनिर्दोषभिक्षादानविधिः स तु।
गृह्यतां कल्पनीयोऽयं, रस इत्यवदत् विभुम्।।२९१।।

प्रभुरप्यंजलीकृत्य, परिपात्रधारयत्।
उत्क्षिप्योत्क्षिप्य सोऽपीक्षुरसकुम्भानलोठयत्।।
राधशुक्ल तृतीयायां, दानमासीत्तदक्षयम्।
पर्वाक्षयतृतीयेति, ततोऽद्यापि प्रवर्तते।।३०१।।

ऊपर लिखित श्लोकों में आचार्य हेमचन्द्र ने स्पष्टतः लिखा है कि संवत्सर पर्यन्त भगवान् ऋषभदेव मौन धारण किये हुए निराहार ही विभिन्न आर्य तथा अनार्य क्षेत्रों में विचरण करते रहे हैं। तदनन्तर उन्होंने विचार किया कि जिस प्रकार दीपकों का अस्तित्व तेल पर और वृक्षों का अस्तित्व पानी पर निर्भर करता है, उसी प्रकार देहधारियों के शरीर भी आहार पर ही निर्भर करते हैं। यह विचार कर वे पुनः भिक्षार्थ प्रस्थित हुए और विभिन्न स्थलों मे विचरण करते हुए अन्ततोगत्वा हस्तिनापुर पधारे। हस्तिनापुर में भी वे भिक्षार्थ घर-घर भ्रमण करने लगे। अपने नगर में प्रभु का आगमन सुनते ही पुरवासी अपने सभी कार्यों को छोड़ प्रभु दर्शन के लिये उमड़ पड़े। हर्षविभोर हस्तिनापुर निवासी प्रभु चरणों पर लोटपोट हो उन्हें अपने-अपने घर को पवित्र करने के लिये प्रार्थना करने लगे। भगवान् ऋषभदेव भिक्षार्थ जिस-जिस घर में प्रवेश करते, वहीं कोई गृहस्वामी उन्हें स्नान-मज्जन-विलेपन कर सिंहासन पर विराजमान होने की प्रार्थना करता, कोई उनके समक्ष रत्नाभरणालंकार प्रस्तुत करता, कोई गज, रथ, अश्व आदि प्रस्तुत कर, उन पर बैठने की अनुनय-विनयपूर्वक प्रार्थना करता। सभी गृहस्वामियों ने अपने-अपने घर की अनमोल से अनमोल महार्घ्य वस्तुएँ तो प्रभु के समक्ष प्रस्तुत की किन्तु आहार प्रदान करने की विधि से अनभिज्ञ उन लोगों में से किसी ने भी प्रभु के समक्ष विशुद्ध आहार प्रस्तुत नहीं किया। इस प्रकार अनुक्रमशः प्रत्येक घर से विशुद्ध आहार न मिलने के कारण प्रभु निराहार ही लौटते रहे और मौन धारण किये हुए शान्त, दान्त भगवान् ऋषभदेव एक के पश्चात् दूसरे घर में प्रवेश करते एवं पुनः लौटते हुए आगे की ओर बढ़ रहे थे। राजप्रासाद के पास सुविशाल जनसमूह का कोलाहल सुनकर हस्तिनापुराधीश ने दौवारिक से कारण ज्ञात करने को कहा। प्रभु का आगमन सुन महाराज सोमप्रभ और युवराज श्रेयांसकुमार हर्षविभोर हो त्वरित गति से तत्काल प्रभु के सम्मुख पहुँचे। आदक्षिणा-प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन-नमन और चरणों में लुण्ठन के पश्चात् हाथ जोड़े वे दोनों पिता-पुत्र आदिनाथ की ओर निर्निमिष दृष्टि से देखते ही रह गये। गहन अन्तस्थल में छुपी स्मृति से श्रेयांसकुमार को आभास हुआ कि उन्होंने प्रभु जैसा ही वेश पहले कभी कहीं न कहीं देखा है। उत्कट चिन्तन और कर्मों के क्षयोपशम से श्रेयांसकुमार को तत्काल जातिस्मरण ज्ञान हो गया। जातिस्मरण-ज्ञान के प्रभाव से उन्हें प्रभु के वज्रनाभादि भवों के साथ अपने पूर्वभवों का और मुनि को निर्दोष आहार प्रदान करने की विधि का स्मरण हो गया। श्रेयांस ने तत्काल निर्दोष-विशुद्ध इक्षुरस का घड़ा उठाया और प्रभु से निवेदन किया, हे आदि प्रभो ! आदि तीर्थेश्वर ! जन्म-जन्म के आपके इस दास के हाथ से यह निर्दोष कल्पनीय इक्षुरस ग्रहण कर इसे कृतकृत्य कीजिये।

प्रभु ने करद्वयपुटकमयी अंजलि आगे की। श्रेयांस ने उत्कट श्रद्धा-भक्ति एवं भावनापूर्वक इक्षुरस प्रभु की अंजलि में उड़ेला। इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव ने पारणा किया। देवों ने गगनमण्डल से पँच दिव्य की वृष्टि की। अहो दानम्, अहो दानम्! के निर्घोषों, जयघोषों और दिव्य दुन्दुभि-निनादों से गगन गूँज उठा। दशों दिशाओं में हर्ष की लहरें सी व्याप्त हो गईं। राध-शुक्ला अर्थात वैशाख शुक्ला तृतीया के दिन युवराज श्रेयांस ने भगवान् ऋषभदेव को प्रथम पारणक में इक्षुरस का यह अक्षय दान दिया। इसी कारण वैशाख शुक्ल तृतीया का दिन अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुआ और वह अक्षय तृतीया का पर्व आज भी लोक में प्रचलित है।

अपभ्रंश भाषा के महाकवि पुष्पदंत द्वारा रचित महापुराण की रिसहकेवणाणुत्पत्ती नामक नवम सन्धि पृ० १४८-१४९ में भी भगवान् ऋषभदेव के प्रथम पारणे का उल्लेख मिलता है।

ता दुंदुहि खेण भरियं दिसावसाणं।
भणिया सुरवरेहिं भो साहु साहु दाणं।।१।।
पंचवण्णमाणिक्कमिसिद्वी, घरप्रंगणि वसुहार वरिद्वी।

णं दीसइ ससिरविबिंबच्छिहि, कंठभट्ट कंठिय णहलच्छिहि।
मोहबद्धणवपेम्महिरी विव, सग्ग सरोवहु णालसिरी विव।
रयणसमुज्जलवरगयपंति व, दाणमहातरूहलसंपत्ति व।
सेयंसहु घणएण णिउंजिय, उक्कहिं उडमाला इव पंजिय।
पूरियसंवच्छर उव्वासें, अक्खवाणु मणिउं परमेसें।
तहु दिवसहु अत्येण अक्खवतइय णाउं संजायउ।
घरू जायवि भरहें अहिणंदिउ, पढ़मु दाणतित्थंकरू वंदिउ।
अहियं पक्ख तिण्ण सविसेसें, किंचूणे दिण कहिय जिणेसें,
भोयणवित्ती लहीय तमणासे, दाणतित्थु घोसिउ देवीसें।

महाकवि पुष्पदन्त ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि ज्यों ही श्रेयांसकुमार ने अपने राजप्रासाद में भगवान् ऋषभदेव को इक्षुरस से पारणा करवाया त्यों ही दुन्दुभियों के घोष से दशों दिशाएँ पूरित हो गईं। देवों ने 'अहो दानम् अहो दानम्' एवं 'साधु-साधु' के निर्घोष पुनः पुनः किये। श्रेयांस के प्रासाद के प्रांगण में दिव्य वसुधारा की ऐसी प्रबल वृष्टि हुई कि चारों ओर रत्नों की विशाल राशि दृष्टिगोचर होने लगी। प्रभु का संवत्सर तप पूर्ण हुआ और कुछ दिन कम साढ़े तेरह मास के पश्चात् भोजन वृत्ति प्राप्त होने पर भगवान् ने प्रथम तप का पारणा किया। इस दान को अक्षयदान की संज्ञा दी गई। उसी दिन से प्रभु के पारणे के दिन का नाम अक्षय तृतीया प्रचलित हुआ। भरत चक्रवर्ती ने श्रेयांसकुमार के घर जाकर उनका अभिनन्दन एवं सम्मान करते हुए कहा, वत्स ! तुम इस अवसर्पिणीकाल के दानतीर्थ के प्रथम संस्थापक हो, अतः तुम्हें प्रणाम है।

इन सब उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि यह मान्यता प्राचीनकाल से चली आ रही है कि भगवान् ऋषभदेव का प्रथम पारणा अक्षय तृतीय के दिन हुआ था। अक्षय तृतीय का पर्व प्रभु के प्रथम पारणे के समय श्रेयांसकुमार द्वारा दिये गये प्रथम अक्षय दान से सम्बन्धित है। वाचस्पत्यभिधान के श्लोक में भी अक्षय तृतीया को दान का उल्लेख मिलता है।

वैशाखमासि राजेन्द्र, शुक्लपक्षे तृतीयका।
अक्षया सा तिथि प्रोक्ता, कृतिकारोहिणीयुता।।
तस्यां दानादिकं सर्वमक्षयं समुदाहृतम्।.........

प्रव्रज्या ग्रहण करने के १००० वर्ष तक विचरने के बाद ऋषभदेव पुरिमताल नगर के बाहर शकट मुख नामक उद्यान में आये और फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन अष्टम तप के साथ दिन के पूर्व भाग में, उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में प्रभु को एक वट वृक्ष के नीचे केवलज्ञान प्राप्त हुआ। केवलज्ञान द्वारा ज्ञान की पूर्ण ज्योति प्राप्त कर लेने के पश्चात् समवसरण में प्रभु ने प्रथम देशना दी। समवसरण का अर्थ अभिधान राजेन्द्र कोश के अनुसार ''सम्यग् एकीभावेन अवसरणमेकत्र गमनं मेलापकः समवसरणम्'' अर्थात् अच्छी तरह से एक स्थान पर मिलना, साधु-साध्वी आदि संघ का एक संग मिलना एवं व्याख्यान सभा। समवसरण की रचना के विषय में जैन शास्त्रों में उल्लेख है कि वहाँ देवेन्द्र स्वयं आते हैं तथा तीन प्राकारों वाले समवसरण की रचना करते हैं जिसकी एक निश्चित विधि होती है।

माता मरूदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव के दर्शन हेतु व्याकुल हो रही थी। प्रव्रज्या के बाद अपने प्रिय पुत्र को एक बार भी नहीं देख पायी थी। भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान प्राप्त होने का शुभ संदेश जब सम्राट भरत ने सुना तो वे मरूदेवी को लेकर ऋषभदेव के पास जाते हैं। समवसरण में पहुँचकर माता मरूदेवी ने जब

ऋषभदेव को देखा तो सोचने लगी– मैं तो सोचती थी कि मेरा पुत्र कष्टों में होगा लेकिन वह तो अनिर्वचनीय आनन्दसागर में झूल रहा है। इस प्रकार विचार करते करते उनके चिन्तन का प्रवाह बदल गया वे आर्तध्यान से शुक्ल ध्यान में आरूढ़ हुईं और कुछ ही क्षणों में ज्ञान, दर्शन, अन्तराय और मोह के बन्धन को दूर कर केवल ज्ञानी बन गयीं और गजारूड़ स्थिति में ही वे मुक्त हो गईं। इस सन्दर्भ में त्रिषष्टिशलाका पुरूष चरित्र में लिखा है-

करिस्कन्धाधिरूढ़ैव, स्वामिनि मरूदेव्यथ।
अन्तकृत्केवलित्वेन, प्रवेदे पदमव्ययम्।।

-त्रिषष्टि श. पु. चरित्रम् १।३।५३०

आवश्यक चूर्णिकार के अनुसार क्षत्र भायण्डादि अतिशय देखकर मरूदेवी को केवलज्ञान हुआ। आयु का अवसानकाल सन्निकट होने के कारण कुछ ही समय में शेष चार अघाती कर्मों को समूल नष्टकर गजारूढ़ स्थिति में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गई।

भगवतो य छत्तारिच्छतं पेच्छंतीए चेव केवलनाणं उप्पन्नं, तं समयं च णं
आयुं खुट्टं सिद्ध देवेहिं य से पूया कता.....।

-आवश्यक चूर्णि (जिनदास), पृ. १८१

इस प्रकार इस अवसर्पिणी काल में सिद्ध होने वाले जीवों में माता मरूदेवी का प्रथम स्थान है।

-आचार्य हस्तीमल जी महाराज-जैन धर्म का इतिहास

आवश्यक निर्युक्ति में उल्लेख है कि– भगवान् ऋषभदेव की फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन प्रथम देशना हुई।

फग्गुणबहुले इक्कारसीई अह अट्ठमेणभत्तेण।
उप्पत्रंमि अणंते महव्वया पंच पन्नवए।।

—आवश्यक निर्युक्ति गाथा- ३४०

फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन शुद्ध एवं चारित्र धर्म का निरूपण करते हुए रात्रि भोजन विमरण सहित पंचमहाव्रत धर्म का उपदेश दिया। तत्पश्चात् साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूपी धर्म तीर्थ की स्थापना कर भगवान् प्रथम तीर्थंकर बने। उनके उपदेशों को सुनकर भरत के ५०० पुत्र और ७०० पौत्र दीक्षा लेकर साधु बने और ब्राह्मी आदि ५०० स्त्रियाँ साध्वी बनीं। ऋषभसेन ने भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण की और १४ पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया। भगवान् के ८४ गणधर हुए जिनमें ऋषभसेन पहले गणधर बने। कहीं-कहीं पुण्डरिक नाम का उल्लेख भी मिलता है परन्तु समवायांग सूत्र में ऋषभसेन नाम का उल्लेख है। आवश्यक चूर्णी में भी ऋषभसेन नाम का ही उल्लेख मिलता है।

तत्थ उसभसेणो णाम भरहस्स रन्नो पुत्तो सो धम्म सोऊण पव्वइतो तेण तिहिं
पुच्छाहिं चोद्दसपुव्वाइं गहिताईं उप्पन्ने विगते धुते, तत्थ बम्भीवि पव्वइया। -आ. चूर्णि पृ. १८२

भगवान् ऋषभदेव द्वारा स्थापित किये गये धर्म तीर्थ की शरण में आकर अनादिकाल से जन्म-मरण के चक्र में फँसे अनेकानेक भव्य प्राणियों ने आठों कर्मों को क्षय करके मुक्ति प्राप्त की। भगवान् ऋषभदेव ने एक ऐसी सुखद सुन्दर मानव संस्कृति का आरम्भ किया जो सह अस्तित्व, विश्व-बन्धुत्व और लोक कल्याण आदि गुणों से ओत-प्रोत और प्राणि मात्र के लिये सांसारिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में कल्याणकारी थी।

इसीलिये सभी धर्मों के प्राचीन ग्रन्थों में भगवान् ऋषभदेव का प्रमुख स्थान है। वेदों, पुराणों, मनुस्मृति, बौद्ध ग्रन्थों आदि में ऋषभदेव का वर्णन और उनकी प्रशस्ति में श्लोक मिलते हैं। महाकवि सूरदास के शब्दों में-

बहुरि रिसभ बड़े जब भये नाभि राज देवनको गये।
रिसभ राज परजा सुख पायो जस ताको सब जग में छायो।।

-सूरसागर

ऋषभदेव की शिष्य संपदा के विषय में कल्पसूत्र में लिखा है कि **''उसभस्स णं अरहओ को सलियस्स चउरासीइं गणा, चउरासीइं गणहरा होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोस लियस्स उस भसेण- पामोक्खाओ चउरासीइं समण साहस्सीओ उक्कोसिया समण संपया होत्था। उसभस्स णं अरहओ कोसलियस्स बंभी- सुंदरी पामोक्खाणं अज्जियाणं तिन्नि सय साहस्सीओ उक्कोसिया अज्जिया संपया होत्था''**

अर्हत ऋषभ के चौरासी गण और चौरासी गणधर थे। उनके संघ में चौरासी हजार श्रमण थे जिनमें वृषभसेन प्रमुख थे। तीन लाख श्रमणियाँ थीं जिनमें ब्राह्मी और सुन्दरी प्रमुख थीं।

इक्ष्वाकु कुल और काश्यप गोत्र में उत्पन्न ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर माने जाते हैं। इन्हें सभ्यता और संस्कृति का आदि पुरुष कहा जाता है। त्रिशष्टिशलाका पुरुष चरित्र में इनके बारह पूर्वभवों का वर्णन भी है। वैदिक परम्परा में वेदों, पुराणों में भी ऋषभदेव का वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है। पुरातात्विक स्रोतों से भी ऋषभदेव के बारे में सूचनाएँ मिलती हैं। अब तक की सबसे प्राचीन प्राप्त मूर्ति जो हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में मिली है उसके विषय में**--**

T.N. Ramchandra (Joint director General of Indian Archaeology) ने स्पष्ट लिखा है— "We are perhaps recognising in Harappa statuette a fullfledged Jain Tirthankara in the Characteristic pose of physical abandon (Kayotsarga)"

"The name Rishabha means bull and the bull is the emblem of Jain Rishabha "Therefore it is possible that the figures of the yogi with bull on the Indus seals represents the Mahayogi Rishabha," (Modern Review Aug. 1932).

"The images of Rishabha with Trishula-like decoration on the head in a developed artistic shape are also found at a later period. Thus the figures on the Mohanjodaro seals vouch safe the prevalence of the religion and worship of Jain Rsabha at the early period on the western coast of the county."

According to Jamboodwip Pragnapati, "Rishabhdeva was the first tribal leader to make invention of sword by smelting iron ore and to introduce alphabetic writing and its utilization for literary records. The age of Nabhi and his son Rishabha was the age of transition from the upper stage of Kulakarism into the dawn of civilization."

"The picture of the evolution of mankind through the infancy of the human race and kulakarism to the dawn of civilization as depicted in Jain Agamas, compares well with the picture of th evolution of mankind through savegery and barbarism to the begining of civilization as sketched by F Engels."

"The Harappa statuette is a male torso in nude form which resembles the torso found

in Lohanipur, Patna". Historian K. P. Jayaswal declared that "It is the oldest Jain image yet found in India... In the face of similarities the nude torso of Harappa seems to represent an image of a Jina probably of Jain Rishabha."

इसी सन्दर्भ मे प्रो० एस.आर. बेनर्जी ने लिखा है- "Jainism is a very old religion. There were 24 Tirthankars in Jainism. The first was known as Adinatha or Risabha deva and the 24th Tirhankara was Bhagavan Mahavira... If Lord Mahavira is attributed to the 6th century B.C. surely Rishabha deva, the 1st Tirthankar, must have belonged to a much earlier period. It is to be noted that the name Rishabha is found in the Rigveda, which dates back to 1500 B.C." (Understanding Jain Religion in a Historical Perspective. – Dr. Satya Ranjan Banerjee)

जैनधर्म में तीर्थंकर को धर्म तीर्थ का संस्थापक माना गया है। **'नमोत्थुणं' नामक प्राचीन प्राकृत स्तोत्र में तीर्थंकर को धर्म का प्रारम्भ करने वाला, धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाला, धर्म का प्रदाता, धर्म का उपदेशक, धर्म का नेता, धर्म मार्ग का सारथी और धर्म चक्रवर्ती कहा गया है। नमोत्थुणं अरिहंताणं भगवंताणं आइगरणं, तित्थयराणं, सयंसंबुद्धाणं... पुरिसुत्तमाणं, पुरिससीहाणं पुरिसवरपुंडरीयाणं पुरिसवर-गंधहत्थीणं। लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं, लोग-पईवाणं, लोग-पज्जोयगराणं..... धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवर-चाउरंत चक्कवट्टीणं..... जिणाणं जावयाणं, तिन्नाणं तारयाणं, बुद्धाणं बोहयाणं मुत्ताणं मोयगाणं....। (कल्पसूत्र)**

जैनधर्म में तीर्थंकर का कार्य है — स्वयं सत्य का साक्षात्कार करना और लोकमंगल के लिए उस सत्यमार्ग या सम्यक् मार्ग का प्रवर्तन करना है। वे धर्म-मार्ग के उपदेष्टा और धर्म-मार्ग पर चलने वालों के मार्गदर्शक हैं। उनके जीवन का लक्ष्य होता है स्वयं को संसारचक्र से मुक्त करना, आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करना और दूसरे प्राणियों को भी इस मुक्ति और आध्यात्मिक पूर्णता के लिये प्रेरित करना और उनकी साधना में सहयोग प्रदान करना। तीर्थंकरों को संसार समुद्र से पार होने वाला और दूसरों को पार कराने वाला कहा गया है। वे पुरुषोत्तम हैं, उन्हें सिंह के समान शूरवीर, पुण्डरीक कमल के समान वरेण्य और गन्धहस्ती के समान श्रेष्ठ माना गया है। वे लोक में उत्तम, लोक के नाथ, लोक के हितकर्ता, दीपक के समान लोक को प्रकाशित करने वाले कहे गये हैं।

तीर्थङ्कर शब्द का प्रयोग आचारांग, उत्तराध्ययन, समवायांग, स्थानांग एवं भगवती आदि में मिलता है। संस्कृति में तीर्थ शब्द का अर्थ घाट या नदी है। अतः जो किनारे लगाये वह तीर्थ है। सागर रूपी संसार से पार लगाने के लिये धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले को तीर्थंकर कहते हैं। बौद्ध ग्रन्थ दिघ्निकाय में छः तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है। (१) पूर्ण काश्यप, (२) मंक्खलि गोशाल, (३) अजित केश कम्बल, (४) प्रबुद्ध कात्यायन, (५) संजयबेलटिठ्ठपुत्र, (६) निगण्ठनातपुत्र। विशेषावश्यक भाष्य में तीर्थ की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है कि जिसके द्वारा पार हुआ जाता हैं उसको तीर्थ कहते हैं। यहाँ तीर्थ के चार भाग बताये हैं। तीर्थ नाम से संबोधित किये जाने वाले स्थान **'नाम तीर्थ'** कहलाते हैं। जिन स्थानों पर भव्य आत्माओं का जन्म, मुक्ति आदि होती है और उनकी स्मृति में मन्दिर, प्रतिमा आदि स्थापित किये जाते हैं वे **'स्थापना तीर्थ'** कहलाते हैं। जल में डूबते हुए व्यक्ति को पार कराने वाले, मनुष्य की पिपासा को शान्त करने वाले और मनुष्य शरीर के मल को दूर करने वाले **'द्रव्य तीर्थ'** कहलाते हैं, जिनके द्वारा मनुष्य के क्रोध आदि मानसिक विकार दूर होते हैं तथा व्यक्ति भवसागर से पार होता है, वह निर्ग्रन्थ प्रवचन **'भावतीर्थ'** कहा जाता है।

तीर्थ हर धर्म का केन्द्र स्थल तथा श्रद्धा स्थल हैं। तीर्थ वह स्थान है जहाँ किसी महापुरुष द्वारा साधना

की गयी हो या मुक्ति प्राप्त की गयी हो। वह स्थान उस विलक्षण व्यक्तित्व की चेतना की उर्जा से उक्त हो जाता है तथा वहाँ की चेतना की सघनता स्वमेव उस स्थान को तीर्थ का रूप प्रदान कर देती है। जहाँ लोग आकर दर्शन करते हैं साधना करते हैं क्योंकि वहाँ के वातावरण में तीर्थंकरों और महापुरूषों के चैतन्य के परमाणु व्याप्त होते हैं। उनकी चेतना की ज्योति का घनत्व आत्म साधक की साधना की क्षमता को शीघ्र ही बढ़ा देता है। महोपाध्याय चन्द्रप्रभजी के शब्दों में 'तीर्थ में प्रवहमान चैतन्य धारा स्वतः में प्रवहमान होने लगती है। तीर्थ हमारी निष्ठा एवं श्रद्धा के सर्वोपरि माध्यम हैं। तीर्थ ही वे माध्यम हैं जिनके द्वारा हम अतीत के आध्यात्म में झाँक सकते हैं। तीर्थ सदा से हमारे सांस्कृतिक जीवन की धुरी रहे हैं। सारी की सारी नैतिक रक्त नाड़ियाँ यहीं से होकर गुजरती हैं और हमें संस्कृति तथा धर्म के तल पर नया जीवन नयी उमंग प्रदान करती हैं। यही से हम उत्साह की मंद पड़ती लौ के लिये नयी ज्योति पाते हैं। संक्षेप में तीर्थ हमारे आत्म कला के सर्वोत्कृष्ट साधन हैं'' (महोपाध्याय श्रीचन्द्रप्रभ सागरजी) प्राचीन शास्त्रों से यह पता चलता है कि तीर्थंकर की अवधारणा का विकास अरिहंत की अवधारणा से हुआ है। उत्तराध्ययन में सबसे पहले हमें तित्थयर शब्द मिलता है। तीर्थंकर के लिये बुद्ध शब्द का प्रयोग जैन आगमों में तथा बौद्ध पिटकों में बुद्धों का तीर्थंकर के रूप में प्रयोग मिलता है।

तीर्थ स्थानों में व्यक्ति सब चिन्ताओं से मुक्त हो भावविभोर हो भक्ति में लीन हो जाता है। जितने समय तक वहाँ रहता है एक विशेष सुख शान्ति का अनुभव करता है। तीर्थों की गरिमा मन्दिरों से अधिक है। जैन धर्म में २४ तीर्थंकरों की मान्यता है। महाभारत और पुराणों में तीर्थ यात्रा के महत्त्व को बतलाते हुए यज्ञों की तुलना मे श्रेष्ठ बताया गया है। बौद्ध परम्परा में भी बुद्ध के जन्म, ज्ञान, धर्मचक्र प्रवर्तन और निर्वाण इन चार स्थानों को पवित्र मानकर यहाँ यात्रा करने का निर्देश मिलता है। चीनी यात्री फाह्यान ह्वेनसांग, इत्सिन आदि बौद्ध तीर्थों की यात्रा हेतु भारत आये थे। तीर्थंकरों, मुनियों, ऋषियों की चैतन्य विद्युत धारा से प्रवाहित तीर्थों में चेतना की ज्योति अखण्ड रहती है।

जैन शास्त्रों में तीर्थंकरों के निर्वाण स्थल, जन्म स्थल, तथा अन्य कल्याण भूमियों को तीर्थ के रूप में मान्यता दी गयी है तथा उन स्थानों पर बनाये गये चैत्यों, स्तूपों तथा वहाँ पर जाकर महोत्सव मनाने का वर्णन आगम साहित्य में उपलब्ध मिलता है। आचारांग निर्युक्ति, निशीथ चूर्णी, व्यवहार चूर्णी, महनिशीथ, श्री पंचाशक प्रकरणम्, हरिभद्रसुरि सारावली प्रकीर्णक, सकल तीर्थ स्तोत्र, अष्टोत्तरी तीर्थमाला, प्रबन्धग्रन्थों तथा जिनप्रभसूरि रचित विविध तीर्थकल्प आदि ग्रन्थों में तीर्थों, तीर्थ यात्री संघों द्वारा तीर्थों की यात्रा का उल्लेख मिलता है तथा उनकी महत्ता का भी वर्णन मिलता है।

तीर्थंकरों द्वारा स्थापित साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका का चतुर्विध संघ (तित्थ्यं पुण चाउवन्ने समणसंघे, समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ —भगवती सूत्र शतक २० /उ० ८ /सूत्र ७४) भी संसार रूपी समुद्र से पार कराने वाला भाव तीर्थ कहा जाता है। इस प्रकार के चतुर्विध संघ के निर्माण का वर्णन प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर से हमें मिलता है। जैन परम्परा में तीर्थ शब्द के अर्थ का ऐतिहासिक विकासक्रम देखने को मिलता है। यहाँ तीर्थ शब्द को अध्यात्मिक अर्थ प्रदान कर अध्यात्मिक साधना मार्ग को तथा उस साधना के अनुपालन करने वाले साधकों के संघ को तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। धार्मिक क्रियाओं में चतुर्विध श्री संघ की मान्यता तथा चतुर्विध श्री संघ द्वारा तीर्थयात्रा को एक धार्मिक क्रिया के रूप में मान्यता दी गयी है।

ऋग्वेद में तीर्थों का वर्णन नहीं है क्योंकि प्रारम्भ में वैदिक लोग मन्दिर और मूर्ति पूजा में विश्वास नहीं रखते थे। लेकिन श्रमण संस्कृति के प्रभाव के फलस्वरूप उपनिषदों, पुराणों, महाभारत आदि में तीर्थ यात्राओं

की उच्चकोटि की महत्ता मानी गयी और इनका वर्णन किया गया। इन तीर्थ यात्राओं की कुछ प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार थीं। (१) ये यात्राएँ किसी विशेष पूजा पद्धति के अनुयायी सम्मिलित होकर करते थे। (२) इनकी यात्रा का लक्ष्य कोई प्रमुख तीर्थ स्थान रहता था। (३) इस यात्रा में संतों और मुनियों के समागम को प्रत्येक धर्म में महत्ता दी गयी। (४) इन संघों के यात्री मार्ग में धर्म प्रभावना का कार्य निरन्तर करते थे। दान और पुण्य का बड़ा महत्त्व समझा जाता था। (५) यात्रा के मार्ग में पड़ने वाले जीर्ण-शीर्ण मन्दिरों की व्यवस्था की जाती थी। निर्धन वर्ग को सहायता प्रदान करना एवं मार्ग में विशेष सुविधाओं की स्थापना करना अति पुण्य का कार्य समझा जाता था। (६) इस प्रकार की यात्राओं का व्यय एक व्यक्ति या कुछ व्यक्ति सम्मिलित होकर उठाते थे। (७) मार्ग में पड़ने वाले राज्यों के शासक भी संघों के यात्रियों की व्यवस्था करते थे तथा यात्री संघों द्वारा शासकों को भेट दी जाती थी। जिसके बदले ये शासक विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ यात्रियों को उपलब्ध कराते थे। संतों का प्रयास रहता था कि शासक को धार्मिक सिद्धान्तों की ओर प्रेरित करे। इस प्रकार हम देखते हैं कि तीर्थ और तीर्थ यात्रा संघों का महत्त्व धार्मिक तीर्थों की देखभाल और पुनरूद्धार के लिये, विभिन्न जातियों भाषा-भाषियों से सम्पर्क स्थापित करने के लिये, मानव जीवन के श्रेष्ठतम मूल्यों के प्रसार के लिये, देश के विभिन्न भागों की जानकारी एवं नजदीकी सम्बन्ध स्थापित करने के लिये, राजकीय संरक्षण के लिये तथा शासकों में धर्म प्रचार के लिये आवश्यक बना रहा।

तीर्थङ्करों का जन्म स्वयं के कल्याण के लिये ही नहीं अपितु जगत् के कल्याण के लिये होता है। अतः उनके जीवन के विशिष्ट मंगल दिनों को कल्याणक दिन कहा जाता है। जैन परंपरा में तीर्थङ्करों के पंच कल्याणक रूप माने जाते है — **पंच महाकल्लाणा सव्वेसिं हवंति नियमेण।**— (पंचाशक-हरिभद्र ४२४), **जस्स कम्ममुदएण जीवो पंचमहाकल्लाणाणि पाविदूण तित्थ दुवालसंगं कुणदि तं तित्थयरणाम।**

- धवला १३।५, १०१।३६६।६, गोम्मटसार, जीवकाण्ड, टीका ३८१।६

ये पंचकल्याणक दिन निम्नलिखित हैं—

गर्भकल्याणक- तीर्थङ्कर जब भी माता के गर्भ में अवतरित होते हैं तब श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार माता १४ और दिगम्बर परम्परा के अनुसार १६ स्वप्न देखती है तथा देवता और मनुष्य मिलकर उनके गर्भावतरण का महोत्सव मनाते हैं।

जन्मकल्याणक — जैन मान्यतानुसार जब तीर्थङ्कर का जन्म होता है, तब स्वर्ग के देव और इन्द्र पृथ्वी पर आकर तीर्थङ्कर का जन्मकल्याणक महोत्सव मनाते हैं और मेरू पर्वत पर ले जाकर वह उनका जन्माभिषेक करते हैं।

दीक्षाकल्याणक — तीर्थङ्कर के दीक्षाकाल के उपस्थित होने के पूर्व लोकान्तिक देव उनसे प्रव्रज्या लेने की प्रार्थना करते हैं। वे एक वर्ष तक करोडों स्वर्ण मुद्राओं का दान करते हैं। दीक्षा तिथि के दिन देवेन्द्र अपने देवमण्डल के साथ आकर उनका अभिनिष्क्रमण महोत्सव मनाते हैं। वे विशेष पालकी में आरूढ़ होकर वनखण्ड की ओर जाते हैं। जहाँ अपने वस्त्राभूषण का त्यागकर तथा पंचमुष्ठि लोच कर दीक्षित हो जाते हैं। नियम यह है कि तीर्थङ्कर स्वयं ही दीक्षित होता है किसी गुरू के समीप नहीं।

कैवल्यकल्याणक — तीर्थङ्कर जब अपनी साधना द्वारा कैवल्य ज्ञान प्राप्त करते हैं उस समय भी स्वर्ग से इन्द्र और देवमण्डल आकर कैवल्य महोत्सव मनाते हैं। उस समय देवता तीर्थङ्कर की धर्म सभा के लिये समवसरण की रचना करते हैं।

निर्वाणकल्याणक - तीर्थङ्कर के परिनिर्वाण प्राप्त होने पर देव द्वारा उनका दाह संस्कार कर परिनिर्वाणोत्सव

मनाया जाता है।

आरम्भिक जैन आगम साहित्य में सिद्धान्तों पर महत्त्व दिया गया है तीर्थों पर कम। यहाँ सबसे पूर्व कल्याणकों को तीर्थ के रूप में बताया गया है। गर्भ (च्यवन) जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण। जिसमें निर्वाण स्थल का महत्त्व ज्यादा है जैन साहित्य में पाँच तीर्थों की महिमा का विशेष वर्णन मिलता है- **''आबू, अष्टापद, गिरनार, सम्मेतशिखर, शत्रुञ्जय सार। ये पाँचे उत्तम ठाम, सिद्धि गया तेने करूँ प्रणाम।''**

निर्वाण स्थलों के विषय में रविसेन ने पद्मपुराण में लिखा है कि "Many are the great souls who conquered their passions and attain release in times long passed; though these great souls have now vanished from our sight, we can still see the places that they Sanctified by their glorious acts."

आचार्य पूज्यपाद ने निर्वाण भक्ति में लिखा है-

"Just as cakes become sweet when they are coated with sugar frosting so do places in this world become holy and pure when a Saint abides in them" (Pujyapada-निर्वाण भक्ति)।

जब मनुष्यों का तीर्थों में आवागमन अवरुद्ध हो जाता है राजनैतिक या भौगोलिक कारणों से तो अपने पहुँच के क्षेत्र में ही उस तीर्थ की यादगार प्रतीक बनाकर पूजा करते हैं। अष्टापद जो प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की निर्वाण भूमि है उसके विषय में भी ऐसा ही हुआ है। लेकिन आज जो साहित्यिक स्रोत हमारे पास हैं उनसे हमें अष्टापद की जानकारी मिलती है जिसके आधार पर अष्टापद की अवस्थिति का पता चल सकता है।

आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव का निर्वाण अष्टापद पर हुआ था जिसका विवरण कल्पसूत्र में हमें मिलता है- **''चउरासीइं पुव्वसय सहस्साइं सिव्वाउयं पालइत्ता खीणे वेयणिज्जाउज-णाम-गोत्ते इमीसे ओसप्पिणीए सुसम-दुस्समाए समाए बहु बिइक्कंताए तिहिं वासेहिं अद्ध नवमेहिं य मासेहिं सेसेहिं जे से हेमंताणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे, माह बहुले, तस्स णं माह बहुलस्स तेरसी पक्खेणं उप्पिं अट्ठावय सेल-सिहरंसि दसहिंअणगार-सहर-सेहिं सिद्धिं चोद्दसमेण भत्तेण अपाणएणं अभिइणा नक्खत्तेणं जोगभुवा गएणं पुव्वण्ह-काल-समयंसि संपलियंक-निसन्ने कालगए विइक्कंते जाव सव्व-दुक्ख-पहीणे।।१९९।।**

चौरासी लाख पूर्व वर्ष की आयु पूरी होने पर उनके वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र कर्मों का क्षय हो गया। उस समय वर्तमान अवसर्पिणी के सुषम-दुषम नामक तीसरे आरे के बीत जाने में तीन वर्ष साढ़े आठ महीने बाकी बचे थे। हेमन्त ऋतु का तीसरा महीना और पाँचवां पक्ष चल रहा था। माघ कृष्ण तेरस के दिन अष्टापद पर्वत के शिखर पर दोपहर से पूर्व ऋषभदेव १० हजार श्रमणों के साथ जलरहित चतुर्दश भक्त (छह उपवास) तप का पालन करते हुए पर्यंकासन में ध्यानमग्न बैठे थे। तब अभिजित नक्षत्र का योग आने पर वे कालधर्म को प्राप्त हुए। समस्त दुःखों से पूर्णतया मुक्त हो गये।

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने सर्वज्ञ होने के पश्चात् आर्यावर्त्त के समस्त देशों में विहार किया, भव्य जीवों को धार्मिक देशना दी और आयु के अन्त में अष्टापद (कैलाश पर्वत) पहुँचे। वहाँ पहुँचकर योगनिरोध दिया और शेष कर्मों का क्षय करके माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन अक्षय शिवगति (मोक्ष) प्राप्त की।

भगवान् ऋषभदेव ने अष्टापद (कैलाश) में जिस दिन शिवगति प्राप्त की उस दिन समस्त साधु-संघ ने दिन को उपवास तथा रात्रि को जागरण करके शिवगति प्राप्त भगवान् की आराधना की, जिसके फलस्वरूप यह तिथि रात्रि शिवरात्रि के नाम से प्रसिद्ध हुई।

उत्तर प्रान्तीय जैनेतर वर्ग में प्रस्तुत शिवरात्रि पर्व फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को माना जाता है। उत्तर तथा दक्षिण देशीय पंचांगों में मौलिक भेद इसका मूल कारण है। उत्तरप्रान्त में मास का प्रारम्भ कृष्ण-पक्ष से माना जाता है और दक्षिण में शुक्ल-पक्ष से। प्राचीन मान्यता भी यही है। जैनेतर साहित्य में चतुर्दशी के दिन ही शिवरात्रि का उल्लेख मिलता है। ईशान संहिता में लिखा है-

माघे कृष्णचतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिंगतयोद्भूतः कोटिसूर्यसमप्रभः।

प्रस्तुत उद्धरण में जहाँ इस तथ्य का संकेत है कि माघ कृष्णा चतुर्दशी को ही शिवरात्रि मान्य किया जाना चाहिए, वहाँ उसकी मान्यतामूलक ऐतिहासिक कारण का भी निर्देश है कि उक्त तिथि की महानिशा में कोटि सूर्य प्रभोपम भगवान् आदिदेव (वृषभनाथ) शिवरात्रि प्राप्त हो जाने से शिव इस लिंग (चिह्न) से प्रकट हुए-अर्थात् जो शिव पद प्राप्त होने से पहले आदिदेव कहे जाते थे, वे अब शिव पद प्राप्त हो जाने से शिव कहलाने लगे।

उत्तर तथा दक्षिण प्रान्त की यह विभिन्नता केवल कृष्ण-पक्ष में ही रहती है, पर शुक्ल-पक्ष के सम्बन्ध में दोनों ही एक मत हैं। जब उत्तर भारत में फाल्गुन कृष्णपक्ष प्रारम्भ होगा तब दक्षिण भारत का वह माघ कृष्ण-पक्ष कहा जायेगा। जैनपुराणों के प्रणेता प्राय दक्षिण भारतीय जैनाचार्य रहे हैं, अतः उनके द्वारा उल्लिखित माघ कृष्ण चतुर्दशी उत्तर भारतीय जन की फाल्गुन कृष्णा-चतुर्दशी ही हो जाती है। कालमाघवीय नागर खण्ड में प्रस्तुत माघवैषम्य का निम्न प्रकार समन्वय किया गया है—

माघ मासस्य शेषे या प्रथमे फाल्गुणस्य च।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु शिवरात्रिः प्रकीर्तिता।

अर्थात् दक्षिणात्य जन के माघ मास के शेष अथवा अन्तिम पक्ष की और उत्तरप्रान्तीय जन के फाल्गुन के प्रथम मास की कृष्ण चतुर्दशी शिवरात्रि कही गई है। (ऋषभदेव तथा शिव सम्बन्धी प्राच्य मान्यताएँ)

इस प्रकार वैदिक साहित्य में माघ कृष्णा चतुर्दशी के दिन आदिदेव का शिव लिंग के रूप में उद्भव होना माना गया है और भगवान् आदिनाथ के शिव पद प्राप्ति का इससे साम्य प्रतीत होता है। अतः यह सम्भव है कि भगवान् ऋषभदेव की निषद्या (चिता स्थल) पर जो स्तूप का निर्माण किया गया वही आगे चलकर स्तूपाकार चिह्न शिवलिंग के रूप में लोक में प्रचलित हो गया है।

भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण होते ही सौधर्मेन्द्र शक्र आदि ६४ इन्द्रों के आसन चलायमान हुए। वे सब इन्द्र अपने-अपने विशाल देव परिवार और अद्भुत दिव्य ऋद्धि के साथ अष्टापद शिखर पर आए। देवराज शक्र की आज्ञा से देवों ने तीन चिताओं और तीन शिविकाओं का निर्माण किया। शक्र ने क्षीरोदक से प्रभु के पार्थिव शरीर को और दूसरे देवों ने गणधरों तथा प्रभु के शेष अन्तेवासियों के शरीरों को क्षीरोदक से स्नान करवाया। उन पर गोशीर्ष चन्दन का विलेपन किया गया। शक्र ने प्रभु के और देवों ने गणधरों तथा साधुओं के पार्थिव शरीरों को क्रमशः तीन अतीव सुन्दर शिविकाओं में रखा। जय जय नन्दा, जय जय भद्दा आदि जयघोषों और दिव्य देव वाद्यों की तुमुल ध्वनि के साथ इन्द्रों ने प्रभु की शिविका को, और देवों ने गणधरों तथा साधुओं की दोनों पृथक्-पृथक् शिविकाओं को उठाया। तीनों चिताओं के पास आकर एक चिता पर शक्र ने प्रभु के पार्थिव शरीर को रखा। देवों ने गणधरों के पार्थिव शरीर उनके अन्तिम संस्कार के लिए निर्मित दूसरी चिता पर और साधुओं के शरीर तीसरी चिता पर रखे। शक्र की आज्ञा से अग्निकुमारों ने क्रमशः तीनों चिताओं में

अग्नि की विकुर्वणा की और वायुकुमार देवों ने अग्नि को प्रज्वलित किया। उस समय अग्निकुमारों और वायुकुमारों के नेत्र अश्रुओं से पूर्ण और शोक से बोझिल बने हुए थे। गोशीर्ष चन्दन की काष्ठ से चुनी हुई उन चिताओं में देवों द्वारा कालागरू आदि अनेक प्रकार के सुगन्धित द्रव्य ड़ाले गये। प्रभु के और उनके अन्तेवासियों के पार्थिव शरीरों का अग्नि-संस्कार हो जाने पर शक्र की आज्ञा से मेघकुमार देवों ने क्षीरोदक से उन तीनों चिताओं को ठण्डा किया। सभी देवेन्द्रों ने अपनी-अपनी मर्यादा के अनुसार प्रभु की दाढ़ों और दाँतों को तथा शेष देवों ने प्रभु की अस्थियों को ग्रहण किया।

तदुपरान्त देवराज शक्र ने भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों को सम्बोधित करते हुए कहा-देवानुप्रियो ! शीघ्रता से सर्वरत्नमय विशाल आलयों (स्थान) वाले तीन चैत्य-स्तूपों का निर्माण करो। उनमें से एक तो तीर्थङ्कर प्रभु ऋषभदेव की चिता के स्थान पर हो। उन चार प्रकार के देवों ने क्रमशः प्रभु की चिता पर, गणधरों की चिता पर और अणगारों की चिता पर तीन चैत्य स्तूपों का निर्माण किया।

आवश्यक निर्युक्ति में उन देवनिर्मित और आवश्यक मलय में भरत निर्मित चैत्यस्तूपों के सम्बन्ध में जो उल्लेख है, वह इस प्रकार है :

मडयं मयस्स देहो, तं मरूदेवीए पढम सिद्धो त्ति।
देवेहिं पुरा महियं, झावणया अग्गिसक्कारो य।।६०।।

सो जिणदेहाईणं, देवेहिं कतो चितासु थूभा य।
सद्दो य रूण्णसद्दो, लोगो वि ततो तहाय कतो।।६१।।

तथाभगवद्देहादिदग्धस्थानेषु भरतेन स्तुपा कृता, ततो

आवश्यक मलय में लिखित है-

लोकेऽपि तत आरभ्य मृतक दाह स्थानेषु स्तुपा प्रवर्तन्ते।।

— आवश्यक मलय

आचारांग निर्युक्ति के अतिरिक्त आवश्यक निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथाओं से भी अष्टापद तीर्थ का विशेष परिचय मिलता है— आवश्यक सूत्र जैनागम के अन्तर्गत चार मूल सूत्रों में द्वितीय है। जीवन की वह क्रिया जिसके अभाव में मानव आगे नहीं बढ़ सकता वह आवश्यक कहलाती है। आवश्यक सूत्र की सबसे प्राचीन व्याख्या आवश्यक निर्युक्ति है जिसमें भगवान् ऋषभदेव के चरित्र का वर्णन मिलता है जिसके अन्तर्गत उनका अष्टापद पर विहार करने, निर्वाण प्राप्त करने तथा भरत द्वारा चैत्यों का निर्माण करने का विवरण है...

तित्थयराण पढमो असभरिसी विहरिओ निरूवसग्गो ।
अट्ठावओ जगवरो, अग्ग (य) भूमि जिणवरस्स।।३३८।।

अह भगवं भवहमणो, पुव्वाणमणूणगं सयसहस्सं ।
अणुपुव्वीं विहरिऊणं, पत्तो अट्ठावयं सेलं।।४३३।।

अट्ठावयंमि सेले, चउदस भत्तेण सो महरिसीणां ।
दसहि सहस्सेहिं समं, निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ।।४३४।।

निव्वाणं चिइगागिई, जिणास्स इक्खाग सेसयाणं च ।
सकहा थूभरजिणहरे जायग तेणाहि अग्गित्ति ।।४३५।।

तब संसार-दुःख का अन्त करने वाले भगवान् ऋषभदेव सम्पूर्ण एक लाख वर्षों तक पृथ्वी पर विहार करके अनुक्रम से अष्टापद पर्वत पर पहुँचे और छः उपवास के अन्त में दस हजार मुनिगण के साथ सर्वोच्च निर्वाण को प्राप्त हुए। भगवान् ऋषभदेव, उनके गणधरों और अन्तेवासी साधुओं की तीन चिताओं पर पृथक-पृथक तीन चैत्यस्तूपों का निर्माण करने के पश्चात् सभी देवेन्द्र अपने देव-देवी परिवार के साथ नन्दीश्वर द्वीप में गये। वहाँ उन्होंने भगवान् ऋषभदेव का अष्टाह्निक निर्वाण महोत्सव मनाया और अपने-अपने स्थान को लौट गये।

ऋषभदेव के निर्वाण स्थान अष्टापद का विवरण हमें आचारांग निर्युक्ति, आवश्यक निर्युक्ति, उत्तराध्ययन सूत्र की निर्युक्ति के अध्ययन १० में, निशीथ चूर्णि, विविध तीर्थ कल्प, आचार्य धर्मघोष सूरि रचित ज्ञानप्रकाश दीप, शीलांक की कृति चउपन्न महापुरिस चरियं (९वीं शताब्दी), आदि पुराण और उत्तर पुराण, त्रिषष्टिशलाका पुरूष चरियं (हेमचन्द्राचार्य), पंचमहातीर्थ, शत्रुञ्जय महात्म्य (धनेश्वरसूरि कृत) वसुदेव हिण्डी, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, तिलोयपण्णत्ति, पंच महातीर्थ, अष्टापद तप, गौतम रास, गौतम अष्टकम्, रविषेण के पद्म चरित, विमलसूरि के पउमचरिउं, पूज्यपाद के निर्वाण भक्ति, पोटाला पेलेस (दलाईलामा का निवास स्थान) के प्राचीन ग्रन्थों में, लामचीदास गोलालारे का विवरण 'मेरी कैलास यात्रा' में सहजानन्दजी के स्तवन आदि में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है।

आचारांग निर्युक्ति में लिखा है कि-

अट्ठावय मुज्जिंते गयग्गपद धम्मचक्के ।
पासरहा वत्तनगं चमरूप्पायं च वंदामि ॥

तिलोयपण्णति की गाथा ११८६ में लिखा है ऋषभदेव माघ कृष्णा चतुर्दशी पूर्वाह्न में अपने जन्म नक्षत्र (उत्तराषाढ़ा) के रहते कैलाश पर्वत से १०,००० मुनियों के साथ मोक्ष को प्राप्त हुए। हरिवंश पुराण (जिनसेन) और महापुराण (पुष्पदंत) में वर्णित है कि जब ऋषभदेव की आयु के चौदह दिन शेष रह गये तब वे कैलाश पर्वत पर पहुँचे।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति सटीक पूर्व भाग १५८।१ पृष्ठ में उल्लेख है कि भरत ने ऋषभदेव भगवान् की चिता भूमि पर अष्टापद पर्वत की चोटी पर स्तूप का निर्माण कराया। **"चेइअ थूभे करेह"**

अष्टापद गिरि कल्प में ऋषभदेव के अष्टापद पर निर्वाण का विस्तृत रूप से उल्लेख करके अष्टापद की महिमा के विषय में बताया गया है। (see pg. no. 76)

श्री जिनप्रभ सूरि ने अपनी कृति **विविध तीर्थ कल्प** (रचना- सन् १२३२ ई०) में संग्रहीत अपने **अष्टापद गिरि कल्प** में अष्टापद का ही अपर नाम कैलाश बताया है पर साथ ही पौराणिक साहित्य के आधार से उसकी स्थिति आयोध्या नगरी से उत्तर दिशा में १२ योजन (१५० कि० मी०) की दूरी पर बताई है जिसकी धवल शिखर पंक्तियाँ आज भी आकाश निर्मल होने पर **अयोध्या के निकटवर्ती उड्डयकूट** से दिखाई पड़ती हैं। इसके निकट ही मानसरोवर है जो परिपार्श्व में संचरण करते जलचर, **मत्त मोर** आदि पक्षियों के कोलाहल से युक्त है तथा **इसकी उपत्यका में साकेतवासी** लोग नाना प्रकार की क्रीड़ाएँ करते हैं।

श्री धनेश्वरसूरि कृति शत्रुञ्जय महात्मय में भी अष्टापद का विवरण मिलता है। (see pg no. 65)

इस सारे अष्टापद (कैलास) प्रकरण में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य जो सामने आया है वह लौह निर्मित यन्त्रमय मानव की बात । आज जो यन्त्रमय मानव रोबोट बन रहे हैं उसका वर्णन १२वीं शताब्दी में हेमचन्द्राचार्य ने

त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में कैलाश के सन्दर्भ में किया है । ऋषभदेव के पुत्र प्रथम चक्रवर्ती सम्राट भरत ने अष्टापद पर मनुष्य लोग वहाँ आवागमन करके आशातना न करें इसलिये लोहयंत्रमय आरक्षक पुरुष बनवाये।

आज हम अपने को सभ्य और सुसंस्कृत मानते हैं, वैज्ञानिक क्षेत्र में प्रगतिशील समझते हैं । पर आज से हजारों वर्षों पहले का विज्ञान कितना विकसित था यह हमें साहित्य में वर्णित उल्लेखों से स्पष्ट हो जाता है । वनस्पति में जीव की अवधारणा, अणु और पुद्गल का स्वरूप और यन्त्रमय मानव का जैन साहित्य में वर्णन एक बहुत ही प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है । आज से पचास-पचपन वर्ष पूर्व इस विवरण को काल्पनिक और अतिशयोक्ति से भरा समझा जाता था । लेकिन आज यन्त्रमय मानव रोबोट के निर्माण ने उस यथार्थ को जिसे कल्पना समझते थे उसकी वास्तविकता को प्रमाणित कर दिया है । सूर्य रश्मियों को पकड़कर गौतम स्वामी का कैलास शिखर के आरोहण का अर्थ भी अगर देखें तो यह स्पष्ट होता है कि कैलास के लौह यन्त्रमय मानव सूर्य की किरणों से उर्जा प्राप्त कर अपना निर्धारित कार्य करते थे जिसको आज की भाषा में सोलर एनर्जी कहते हैं ।

श्री दीपविजयजी कृत अष्टापद पूजा के अन्तर्गत जलपूजा में अष्टापद की अवस्थिति के विषय में लिखा है –

जंबूना दक्षिण दरवाजेथी, वैताढ्य थी मध्यम भागे रे ।
नयरी अयोध्या भरतजी जाणो, कहे गणधर महाभाग रे ।धन. ।।८।।
जंबूना उत्तर दरवाजेथी, वैताढ्य थी मध्यम भागे रे ।
अयोध्या ऐरावतनी जाणो, कहे गणधर महाभाग रे ।। धन. ।।९।।
बार योजन छे लांबी पहोली, नव योजन ने प्रमाण रे ।
नयरी अयोध्या नजीक अष्टापद, बत्रीस कोस ऊँचाण रे ।। धन. ।।१०।।

जैन धर्म में सर्वोच्च स्थान तीर्थंकरों का है जिनकी प्रतिमाओं की परम्परा जैन आगमों के अनुसार शाश्वत है । आदि भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के बाद वहाँ स्तूप तथा सिंह निषधा पर्वत पर भरत चक्रवर्ती द्वारा बनाये गये जिनालय में दो, चार, आठ, दस के क्रम से कुल चौबीस प्रतिमाओं की स्थापना की गयी जिसका वर्णन सिद्धाणं, बुद्धाणं (सिद्धस्तव) सूत्र में मिलता है ।

चत्तारि अट्ठ दस दोय, वंदिया जिणवरा चउव्वीसं ।
परमट्ठनिट्ठिअट्ठा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ।।५।।

इस प्रकार दक्षिण दिशा में चार, पश्चिम दिशा में आठ, उत्तर दिशा में दस और पूर्व दिशा में दो सब मिलाकर चौबीस जिन मूर्तियाँ हैं ।

गौतम स्वामी की अष्टापद तीर्थयात्रा के सन्दर्भ में महोपाध्याय श्री विनय सागरजी ने गौतम रास परिशीलन की भूमिका में लिखा है- गौतम स्वामी कि अष्टापद तीर्थयात्रा का सबसे प्राचीन प्रमाण सर्वमान्य आप्तव्याख्याकार जैनागम साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् याकिनीमहत्तरासूनु आचार्य हरिभद्रसूरि 'भव विरह' के उपदेश नामक ग्रन्थ की गाथा १४१ की स्वोपज्ञ टीका में वज्रस्वामी चरित्र के अन्तर्गत गौतम स्वामी कथानक में मिलता है । इसमें गौतम स्वामी के चरित्र की मुख्य घटनाओं में गागली प्रतिबोध, अष्टापद तीर्थ की यात्रा, चक्रवर्ती भरत कारित जिनचैत्य बिम्बों की स्तवना, वज्र स्वामी के जीव को प्रतिबोध और उन्हें सम्यक्त्व की प्राप्ति, अष्टापद पर १५०० तापसों को प्रतिबोध, महावीर का निर्वाण और गौतम को केवलज्ञान की प्राप्ति एवं निर्वाण का वर्णन है ।

गौतम स्वामी चरित्र के अन्तर्गत अष्टापद का उल्लेख (सं. ९२५) अभयदेवसूरि के भगवती सूत्र की टीका (सं. ११२८) देवभद्राचार्य के महावीर चरियं (सं. ११३९) हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में मिलता है ।

महोपाध्याय विनयप्रभ रचित गौतम रास में वर्णन है —

जउ अष्टापद सेल, वंदइ चढी चउवीस जिण,
आतम-लब्धिवसेण, चरम सरीरी सो य मुणि ।
इय देसणा निसुणेह, गोयम गणहर संचरिय,
तापस पनर-सएण, तउ मुणि दीठउ आवतु ए ।।२५।।

गणधर गौतम की जिज्ञासा थी कि-मैं चरम शरीरी हूँ या नहीं अर्थात् इसी मानव शरीर से, इसी भव में मैं निर्वाण पद प्राप्त करूँगा या नहीं ?

महावीर ने उत्तर दिया-आत्मलब्धि-स्ववीर्यबल से अष्टापद पर्वत पर जाकर भरत चक्रवर्ती निर्मित चैत्य में विराजमान चौबीस तीर्थंकरों की वन्दना जो मुनि करता है, वह चरम शरीरी है । प्रभु की उक्त देशना सुनकर गौतम स्वामी अष्टापद तीर्थ की यात्रा करने के लिये चल पड़े ।

उस समय अष्टापद पर्वत पर आरोहण करने हेतु पहली, दूसरी और तीसरी सीढ़ियों पर क्रमशः पाँच सौ-पाँच सौ और पाँच सौ करके कुल पन्द्रह सौ तपस्वीगण अपनी-अपनी तपस्या के बल पर चढ़े हुए थे । उन्होंने गौतम स्वामी को आते देखा । ।।२५।।

तप सोसिय निय अंग, अम्हां सगति ने उपजइ ए,
किम चढसइ दिढकाय, गज जिम दीसइ गाजतउ ए ।
गिरुअउ इणे अभिमान, तापस जो मन चिंतवइ ए,
तउ मुनि चढियउ वेग, आलंबवि दिनकर किरण ए ।।२६।।

गौतम स्वामी को अष्टापद पर्वत पर चढ़ने के लिए प्रयत्नशील देखकर वे तापस मन में विचार करने लगे—यह अत्यन्त बलवान मानव जो मदमस्त हस्ति के समान झूमता हुआ आ रहा है, यह पर्वत पर कैसे चढ़ सकेगा? असम्भव है, लगता है कि उसका अपने बल पर सीमा से अधिक अभिमान है । अरे ! हमने तो उग्रतर तपस्या करते हुए स्वयं के शरीरों को शोषित कर, अस्थि-पंजर मात्र बना रखा है, तथापि हम लोग तपस्या के बल पर क्रमशः एक, दो, तीन सीढ़ियों तक ही चढ़ पाये, आगे नहीं बढ़ पाये । तापसगण सोचते ही रहे और उनके देखते ही देखते गौतम स्वामी सूर्य की किरणों के समान आत्मिक बलवीर्य का आलम्बन लेकर तत्क्षण ही आठों सीढ़ियाँ पार कर तीर्थ पर पहुँच गये ।।२६।।

कंचन मणि निष्फन्न, दण्ड-कलस ध्वज वड सहिय,
पेखवि परमाणंद, जिणहर भरहेसर महिय ।
निय निय काय प्रमाण, चिहु दिसि संठिय जिणह बिम्ब,
पणमवि मन उल्लास, गोयम गणहर तिहां वसिय ।।२७।।

अष्टापद पर्वत पर चक्रवर्ती भरत महाराज द्वारा महित पूजित जिन-मन्दिर मणिरत्नों से निर्मित था, दण्ड-कलश युक्त था, विशाल ध्वजा से शोभायमान था । मन्दिर के भीतर प्रत्येक तीर्थंकर की देहमान के अनुसार २४ जिनेन्द्रों की रत्न मूर्तियाँ चारों दिशाओं में ४, ८, १०, २ विराजमान थीं । मन्दिरस्थ जिन मूर्तियों के दर्शन

कर गौतम स्वामी का हृदय उल्लास से सराबोर हो गया, हृदय परम आनन्द से खिल उठा। भक्ति-पूर्वक स्तवना की। सायंकाल हो जाने के कारण मन्दिर के बाहर शिला पर ही ध्यानावस्था में रात्रि व्यतीत की ।।२७।।

— गौतमरास परिशीलन — महोपाध्याय विनयसागरजी पेज ११८-१२०

श्री गौतमाष्टकम् में भी अष्टापद का विवरण इस प्रकार है —

अष्टापदाद्रौ गगने स्वशक्त्या, ययौ जिनानां पदवन्दनाय ।
निशम्य तीर्थातिशयं सुरेभ्यः, स गौतमो यच्छतु वाच्छितं मे ।।५।।

जैन शास्त्रों में अष्टापद तप का वर्णन मिलता है...

आश्विनेऽष्टाह्निकास्वेव यथाशक्ति तपःक्रमैः ।
विधेयमष्ट वर्षाणि तप अष्टापदं परम् ।।

अष्टापद पर्वत पर चढ़ने का तप अष्टापद पावड़ी तप कहलाता है। इसमें आसो सुद आठम से पूर्णिमा तक के आठ दिन को एक अष्टान्हिका (ओली) कहते हैं। उन दिनों में यथाशक्ति उपवासादि तप करना। पहली ओली में तीर्थंकर के पास स्वर्णमय एक सीढ़ी बनवाकर रखना। तथा उसकी अष्टप्रकारी पूजा करना। इस तरह आठ वर्ष तक आठ सीढ़ियाँ स्थापित कर तप करना।

उद्यापन में बड़ी स्नात्र विधि से चौबीस-चौबीस पकवान, फल आदि रखना। इस तप को करने से दुर्लभ वस्तु की प्राप्ति होती है। यह श्रावक को करने का अगाढ़ तप है।

इसमें **श्री अष्टापदतीर्थाय नमः** पद की बीस माला गिनना। स्वस्तिक आदि आठ-आठ करना।

दूसरी विधि : कार्तिक वदी अमावस्या से शुरू कर एकान्तरे आठ उपवास करना। पारणे के दिन एकासना करना। इस प्रकार आठ वर्ष करना।

उद्यापन में अष्टापद पूजा, घृतमय गिरि की रचना, स्वर्णमय आठ-आठ सीढ़ी वाली आठ निसरणी बनवाना। पकवान, तथा सर्व जाति के फल चौबीस-चौबीस रखना। दूसरी सब वस्तुएँ आठ-आठ रखना। (जैन प्रबोध में इस तप को अष्टापद ओली भी कहा है) — तप रत्नाकर — पृष्ठ. २१६

अष्टापद का विवरण रविषेण के पद्मपुराण (तीर्थ वन्दन संग्रह पृष्ठ-९) में भी मिलता है।

गुर्जर फागु काव्य के पृष्ठ २१२ में कवि समरकृत अष्टापद फागु का परिचय प्रकाशित है जो ६४ गाथाओं की रचना है। पाटण के हेमचन्द्राचार्य ज्ञानभण्डार में इसकी हस्तलिखित अप्रकाशित प्रत मौजूद है।

श्री धर्मघोष सूरि द्वारा रचित अष्टापद महातीर्थ कल्प में अष्टापद पर्वत के महात्मय का वर्णन किया गया है - (देखिए पृ. ७०)

आचार्य जिनसेन ने अपने पुराण में अष्टापद को कैलाश के रूप में उल्लेख किया है। उन्होंने कैलाश में भगवान् ऋषभदेव के समवसरण का वर्णन किया है जहाँ सम्राट भरत उनके दर्शन को जा रहे हैं इसका वर्णन इस प्रकार है —

अनुगंगातटं देशान् विलंघय ससरिद्गिरीन् । कैलासशैलसान्निध्यं-क्रिणो बलम् ।।११।।
कैलासाचलमभ्यर्णमथालोक्य रथांगभृत् । निवेश्य निकटे सैन्यं प्रययौ जिनमर्चितुम् ।।१२।।

चक्रवर्ती की वह सेना गंगा नदी के किनारे-किनारे अनेक देश, नदी और पर्वतों को उल्लंघन करती हुई क्रम से कैलाश पर्वत के समीप जा पहुँची ।।११।। तदनन्तर चक्रवर्ती ने कैलाश पर्वत को समीप ही देखकर

सेनाओं को वहीं पास में ठहरा दिया और स्वयं जिनेन्द्र भगवान् की पूजा करने के लिये प्रस्थान किया ।।१२।।

अहो परममाश्चर्य तिरश्चामपि यद्गणैः । अनुयातं मुनिन्द्राणामज्ञातभयसंपदाम् ।।५५।। सोऽयमष्टापदैर्जुष्टो मृगैरन्वर्थनामभिः। पुनरष्टापदख्यात्तिं पुरैति त्वदुपक्रमम् ।।५६। स्फुरन्मणितटोपातिं तारकाचक्रमापतत् । न याति व्यक्तिमस्याद्रेस्तद्रोचिस्छन्नण्डलम् ।।५७।।

अहा, बड़ा आश्चर्य है कि पशुओं के समूह भी, जिन्हें वन के भय और शोभा का कुछ भी पता नहीं है ऐसे मुनियों के पीछे-पीछे फिर रहे हैं ।।५५। सार्थक नाम को धारण करने वाले अष्टापद नामके जीवों से सेवित हुआ यह पर्वत आपके चढ़ने के बाद अष्टापद नाम को प्राप्त होगा ।।५६।। जिस पर अनेक मणि देदीप्यमान हो रहे हैं ऐसे इस पर्वत के किनारे के समीप आता हुआ नक्षत्रों का समूह उन मणियों की किरणों से अपना मण्डल तिरोहित हो जाने के प्रकटता को प्राप्त नहीं हो रहा है ।।५७।।

शुद्धस्फटिकसंकाशनिर्मलोदारविग्रहः । शुद्धत्मेव शिवायास्तु तवायमचलाधिपः ।।६४।।

किंचिच्चान्तरमुल्लंघय प्रस्न्नेनान्तरान्मना । प्रत्यासन्नजिनास्थानं विदामास विदांवरः ।।६६।।

हे देव, जिसका उदार शरीर शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल है ऐसा यह पर्वतराज कैलाश शुद्धात्मा की तरह आपका कल्याण करनेवाला हो ।।६४।। विद्वानों में श्रेष्ठ भरत चक्रवर्ती प्रसन्न चित्त पूर्वक कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन्हें वहाँ समीप ही जिनेन्द्रदेव का समवसरण जान पड़ा ।।६६।।

सन् १८०६ में भूटान निवासी लामचीदास गोलालारे नामक व्यक्ति ने चीन, वर्मा, कामरूप एवं अष्टापद कैलाश की तीर्थयात्रा की थी, जिनमें उन्हें १८ वर्ष लगे । उन्होंने अपनी यात्रा का वर्णन मेरी कैलाश नामक पुस्तिका में किया है ।

नोट - ब्र० लामचीदासजी ने विक्रम संवत् १८२८ में दंडकदेश और इकवन में उत्तर ओर जाय वस्त्र त्यागे एक मुनिराय त्रिषणनाम तिन गुरु से दीक्षा ली, लोंचकर नग्नमुद्रा धरि मुनिवत लेख खड़ा योग ध्यानकर मौनसहित प्राण त्यागे।

पत्र का नोट-श्रावक सर्वजनो संशय न करनी, श्रावक जो जाय सो अपनी सम्यक्त सो दर्शन करो, जाने में भ्रम न करना, जरूर दर्शन होंगे शास्त्र में ऐसा कहा है कि अयोध्या से उत्तर की ओर कैलाशगिरि १६०० कोस है, सो सत्य है हम मारगका फेर खाते हुए प्रथम पूर्व ओर, उत्तर ओर, फिर पश्चिम ओर, फिर दक्षिण ओर ९८९४ कोसलों गये आये कैलास तिब्बत चीन के दक्षिण दिशा में हनवर देश में पर ले किनारे पर है। ताकी तलहटी में उत्तर की ओर धीधर बन जानना... सो चिट्ठी लिखित लामचीदास संवत् १८२८ मिती फागुण सुदी ५ रविवार को पूर्ण करो इति।

लामचीदास जी के लेख में चीन, बर्मा, के जिन मन्दिरों का वर्णन किया है जो जापानी विद्वान् ओकाकुरा के उल्लेख से भी प्रमाणित होता है — "At one time in a single province of Loyang (China) there were more than three thousand monks and ten thousand Indian families to impress thier national religion and art on Chinese soil," Marcopolo ने भी लिखा है– Chinese town canton had a temple of five hundred idols with the dragon as their symbol. उन्होंने बर्मा में बाहुबली की मूर्ति का वर्णन किया है जो आज भी वहाँ बाहुबही पगोड़ा के रूप में है। जिसके विषय मे इतिहासकार फर्ग्यूसन ने लिखा है–- "The Baubaugigi Pagoda in Prorn (city in Burma) consist of a solid mass in brick work of cylindrical form about 80 ft high raised on a triple base and surmounted by a finial carrying the Hti or

umbrella. It is ascribed to the 7th and 8th century"-(History of Indian & Eastern Architecture. Pg. 342 of Vol II) लामचीदास के अनुसार तिब्बत में भावरे और सोहना जाति के जैनी रहते थे। उन्होंने तेले की तपस्या कर यक्ष की सहायता से अष्टापद तीर्थ के दर्शन किये थे जिसके विवरण में उन्होंने बताया है कि ऋषभदेव के टोंक में चरण बने हुए हैं । इसकी पुष्टि स्वामी आनन्द भैरव गिरिजी ने श्री किरीट भाई को लिखे पत्र में की है जिसमें उन्होंने अपनी कैलाश यात्रा के विषय में लिखा है ।

At the end he wrote :

"A good devotee can enjoy the blessful and beautiful vision of Lord Kailas as Astapad and it's surroundings. If there is any love, peace and truth in the world that is here. Materialistic life is nothing to this holy place. I am graceful to the Lama, who took me to there and he is nothing but Lord Shiva in disguise of Lama. Touching of Lord Kailas is the greatest assets in my human life. Now I have no other desires in life, bacause my realization, sense of thrilling vibrations is my final achievements in this Kailas yatra."

अष्टापद पर चढ़ना साधारण मनुष्य के लिये बहुत ही असम्भव है। अष्टापद-कैलाश को बहुत ही पूज्य और पवित्र माना गया है। इसकी पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिये इस पर चढ़ने की कोशिश सामान्य आदमियों के लिये वर्जित है। इस विषय में Herbert Tichy का यह अनुभव दे रहे हैं जिसमें उन्होंने कैलाश पर चढ़ने का असफल प्रयास किया था और उनका क्या अनुभव रहा यह बताया हैं। "Herbert Tichy during one of his travels in Tibet could not resist the temptation of climbing Kailas. All attempts by his sherpa Nima to deter him from undertaking such an attempt failed and he started climbing alone. It was a 'lovely day' according to him. Herbert Tichy in his book 'Himalaya' writes "I was still a long way from the summit when the clouds came up from the Valleys and enveloped me in icy gray pall. Soon, I was being lashed by gigantic hailstones, and unable to fine a single hositable rock behind which to shelter. I beat an ignominious retreat. Back at our camp Nima gave me a broad grin and postively enjoyed telling me that down at the camp there had not been a spot of rain the whole day indeed the earth was bone dry. Yet the mountain was still swathed in a great black cloud that was like a warning to stop frivolously desecrating the realms of God. That sacred mountain are no joke was something I learned" (Eternal Himalaya)

अध्यात्म योग और तपस्या का महत्व बहुत होता है और इसके द्वारा अष्टापद के दर्शन करके अनेकों पुण्य आत्माओं ने अपने को धन्य किया है जिसमें सहजानन्दजी का नाम उल्लेखनीय है। इस सन्दर्भ में यह वृतान्त महत्वपूर्ण है... ''बंगलोर की सविता बेन छोटू भाई ने हम्पी जाकर कई दिन साधना की तब गुरुदेव सहजानन्दजी ने उनसे जो कहा वह सद्गुरु संस्मरण पत्रांक ८८ में लिखा है— मैंने पूज्य गुरुदेव से कहा कि सुगन्ध के साथ किसी के होने का अनुभव किया। तब गुरुदेव ने कहा कि वह तो ऐसे ही हुआ करता है। तुमको कोई साक्षात् दिखायी दे और पूछे कि तुम्हें क्या चाहिये तो कहना कि तुम्हें महाविदेह क्षेत्र के सीमन्धर स्वामी के दर्शन चाहियें, इतना मांगना। ऐसा गुरुदेव ने कहा था.... वैसे तो मैं शास्त्राभ्यास करती हूँ जिसमें मुझे अष्टापद के विषय में समाधान नहीं हुआ था। गुरुदेव से मैंने प्रश्न पूछा तब गुरुदेव ने उनको जो अष्टापद प्रत्यक्ष दर्शन हुए थे उस अनुभव की बात कि अष्टापद पर तीन चौबीसियाँ हैं बहत्तर जिनालय हैं। भूत, भावि और वर्तमान रत्न प्रतिमाएँ हैं जिन्हें भरत राजा ने बनवाया है। यहाँ अपने पास जो परम कृपालु देव की पद्मासन प्रतिमा है उससे थोड़ी बड़ी है।''

आन्ध्रप्रदेश की राजधानी हैदराबाद से ४५ मील उत्तर-पूर्व में कुल्पाक तीर्थ है जिसका वर्णन विविध तीर्थ कल्प के अन्तर्गत माणिक्य देव कल्प के रूप में प्राप्त होता है । इस तीर्थ का पौराणिक इतिहास अष्टापद से सम्बन्धित है जो इस प्रकार है... पूर्व काल में भरत चक्रवर्ती ने अष्टापद पर्वत पर जिन ऋषभदेव की माणिक्य की एक पृथक् प्रतिमा निर्मित कराई थी जो माणिक्य देव के नाम से प्रसिद्ध हुई। यह अत्यन्त प्रभावशाली प्रतिमा है। कुछ लोगों का ऐसा भी मानना था कि भरतेश्वर की मुद्रिका में स्थित पाचिरत्न से यह प्रतिमा बनायी हुई है। इस प्रतिमा की पूजा चिरकाल तक अष्टापद में हुई। उसके बाद इस प्रतिमा को सर्वप्रथम विद्याधरों ने, फिर इन्द्र ने, उसके बाद रावण ने अपने-अपने यहाँ लाकर उसकी पूजा की। लंका दहन के समय यह प्रतिमा समुद्र में डाल दी गयी और बहुत काल बीतने पर कन्नड़ देश के अन्तर्गत कल्याण नगरी के राजा शंकर ने पद्मावती देवी के संयोग से उक्त प्रतिमा प्राप्त की और उसे तेलंग देश के कुलपाक नगर में एक नव निर्मित जिनालय में स्थापित कर दी और उसके व्यय हेतु १२ ग्राम प्रदान किये।

अष्टापद पर्वत ऋषभदेवकालीन अयोध्या से उत्तर की दिशा में अवस्थित था। भगवान् ऋषभदेव जब कभी अयोध्या की तरफ पधारते, तब अष्टापद पर्वत पर ठहरते थे और अयोध्यावासी राजा प्रजा उनकी धर्म सभा में दर्शन-वन्दनार्थ तथा धर्म-श्रवणार्थ जाते थे, परन्तु वर्तमान कालीन अयोध्या के उत्तर दिशा भाग में ऐसा कोई पर्वत आज दृष्टिगोचर नहीं होता जिसे अष्टापद माना जा सके । इसके अनेक कारण ज्ञात होते हैं, पहले तो यह कि भारत के उत्तरदिग्विभाग में विद्यमान पर्वत श्रेणियाँ उस समय में इतनी ठण्डी और हिमाच्छादित नहीं थीं जितनी आज हैं। दूसरा कारण है कि अष्टापद पर्वत के शिखर पर भगवान् ऋषभदेव, उनके गणधरों तथा अन्य शिष्यों का निर्माण होने के बाद देवताओं ने तीन स्तूप और चक्रवर्ती भरत ने सिंह निषद्या नामक चैत्य बनवाकर उसमें चौबीस तीर्थंकरों की वर्ण तथा मनोपैत प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करवाके, चैत्य के चारों द्वारों पर लोहमय यान्त्रिक द्वारपाल स्थापित किये थे। इतना ही नहीं, पर्वत को चारों ओर से छिलवाकर सामन्य भूमिगोचर मनुष्यों के लिए, शिखर पर पहुँचना अशक्य बनवा दिया था। उसकी ऊँचाई के आठ भाग क्रमशः आठ मेखलायें बनवाई थीं और इसी कारण से इस पर्वत का अष्टापद नाम प्रचलित हुआ था। भगवान् ऋषभदेव के इस निर्वाण स्थान के दुर्गम बन जाने के बाद, देव, विद्याधर, विद्याचरण लब्धिधारी मुनि और जंघाचारण मुनियों के सिवाय अन्य कोई भी दर्शनार्थ अष्टापद पर नहीं जा सकता था और इसी कारण से भगवान् महावीर स्वामी ने अपनी धर्मोपदेश-सभा में यह कहा था कि जो मनुष्य अपनी आत्मशक्ति से अष्टापद पर्वत पर पहुँचता है वह इसी भव में संसार से मुक्त होता है।

अष्टापद के अप्राप्य होने का तीसरा कारण यह भी है कि सगर चक्रवर्ती के पुत्रों ने अष्टापद पर्वत स्थित जिनचैत्य, स्तूप आदि को अपने पूर्वज भरत चक्रवर्ती के स्मारकों की रक्षार्थ उसके चारों तरफ गहरी खाई खुदवाकर उसे गंगा के जल प्रवाह से भरवा दिया था। ऐसा प्राचीन जैन कथा साहित्य में किया गया वर्णन आज भी उपलब्ध होता है ।

आदिनाथ ऋषभदेव की निर्वाणभूमि होने के कारण तीर्थों में सबसे प्राचीन अष्टापद तीर्थ माना जाता है। जिन मन्दिरों और मूर्तियों, स्तूपों के उद्भवों की यह महत्वपूर्ण पौराणिक पृष्ठभूमि है। जैनेत्तर साहित्य में इसे कैलाश के नाम से सम्बोधित किया गया है। जैन शास्त्रों में भी अष्टापद का नाम कैलाश बताया गया है।

"Over the high region of the Himalayas was the paradise, of Nirvana and the final resting place of the Jains above the vault of heaven.... Tirthankaras (Saviours) have abdicated and gone north to Kailasa and Mansarovar, where, dropping their mortal frames, they have ascended to their final abode." (Ascent To The Divine The Himalaya Kailasa Mansarovar).

आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत अभिधान चिन्तामणि में लिखा है ''रजताद्रिस्तु कैलासोडष्टापद स्फटिकाचल' (अभिधान चिन्तामणि ४/९४ पृ. २५३) अर्थात् कैलाश पर्वत के चार नाम हैं। (१) रजताद्रि, (२) कैलाश, (३) अष्टापद, (४) स्फटिकाचल। इसके अलावा और जो नाम उपलब्ध होते हैं वो इस प्रकार हैं। घन्दावास, हराद्रि, हिमवत्, हंस और इसको धवलगिरि भी कहा गया। कैलास और अष्टापद दोनों का एक ही पर्यायवाची शब्द हैं जिसका अर्थ है स्वर्ण या सोना। सूर्य की किरणें जब कैलास या अष्टापद पर पड़ती है तो वह स्वर्ण की भाँति चमकता है।

प्राकृत में अष्टापद को 'अट्ठावय' कहा गया है। जिसका अर्थ है स्वर्ण या सोना। कैलाश का अर्थ भी रजतशिला होता है। आज से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व अष्टापद का वर्णन सोने के पर्याय के रूप में बंग्ला लेखक भारतचन्द्र ने किया था। देखते-देखते सेउति होइलो अष्टापद अर्थात् मां अन्नपूर्ण के नौका पर विराजमान होते ही नौका-पतवार आदि स्वर्णमय बन गये। कैलाश को प्राकृत भाषा में 'कईलास' भी कहा गया है। जिसका एक अर्थ राहू का कृष्ण पुद्गल विशेष बताया गया है। कालीदास ने अपने मेघदूत में कैलाश का कृष्ण पर्वत के रूप में उल्लेख किया है। स्वामी तपोवन ने भी कैलाश को कृष्ण पर्वत यानी Dark Mountain कहा है।

अष्टापद का अर्थ आठ पाद वाला भी होता है। अष्टापद नाम का जीव आठ पैरों वाला होता है और शेर से भी ज्यादा बलवान होता है। ऐसा अभिधान चिन्तामणि ३१० में उल्लेख मिलता है।

कैलाश तिब्बत प्रदेश में स्थित है। अष्टापद कैलाश के विषय में जानने के लिये तिब्बत के विषय में जानना आवश्यक है। प्राचीन काल से ही तिब्बत और काश्मीर के क्षेत्र को स्वर्ग कहा जाता था और मानव संस्कृति और सभ्यता का उद्गम स्थल भी तिब्बत को माना जाता है। P. N. Oak के अनुसार The term "Tibet" is a malpronounciation of the sanskrit term 'Trivishtap' meaning paradise. The holy peak kailas, the sacred Mansarovar lake and the venetrated sources of the river Ganga, Yamuna, Saraswati, Sindhu are all in Himalayan region. The supporting Arab tradition that Adam first stepped on the earth from the heaven in India points to the fact that Tibet, Kashmir and the Himalayan foot hills may be that region which is named heaven alias paradise and which has all associations.

Higgins के अनुसार— The Peninsula of India would be one of the first peopled countries, and its inhabitants would have all the habits of the progenitors of man before the flood in as much perfection or more than any other nation.

हिमालय पर्वत शृंखला में कैलाश एक असमान्य पर्वत है। समस्त हिम शिखरों से अलग और दिव्य। पूरे कैलाश की आकृति एक विशाल शिवलिंग जैसी है। यह आसपास के सभी पर्वतों से ऊँचा है। यह कसौटी के ठोस काले पत्थर का है जबकि अन्य पर्वत कच्चे लाल मटमैले पत्थर के हैं। यह सदा बर्फ से ढ़का रहता है। कैलाश शिखर को चारों कोनों के देखने से मन्दिर की आकृति बनी दिखती है। इसकी परिक्रमा ३२ मील की है। जो कैलाश के चारों ओर के पर्वतों के साथ होती है। कैलाश का स्पर्श यात्रा मार्ग से लगभग ड़ेढ़ मील सीधी चढ़ाई पार करके ही किया जा सकता है जो अत्यन्त कठिन है।

मत्स्य पुराण (कैलाश वर्णनम् पृ.३९४) में कैलाश के विषय में लिखा है—

तस्याश्रमस्योत्तरस्त्रिपुरारिनिषेवितः।
नानरत्नमयैः श्रृंगः कल्पद्रुमसमन्वितैः।।१।।

मध्ये हिमवतः पृष्ठे कैलासो नाम पर्वतः।
तस्मिन्नवसति श्रीमान् कुबेरः सह गुह्यकैः।।२।।

अप्सरोऽनुगतो राजा मोदते ह्यलकाधिपः।
कैलासपादसम्भूतं रम्यं शीतजलं शुभम्।।३।।

मन्दारपुष्परजसा पूरितं देवसन्निभम्।
तस्मात् प्रवहते दिव्या नदी मन्दाकिनी शुभा।।४।।

दिव्यञ्च नन्दनं तत्र तस्यास्तीरे महद्वनम्।
प्रागुत्तरेण कैलासाद्दिव्यं सौगन्धिकंगिरिम्।।५।।

सर्वधातुमय दिव्य सुवेलं पर्वतं प्रति।
चन्द्रप्रभो नाम गिरिः स शुभ्रो रत्नसन्निभः।।६।।

तत्समीपे सरो दिव्यमच्छोदं नाम विश्रुतम्।
तस्मात् प्रभवते दिव्या नदीं ह्यच्छोदिका शुभा।।७।।

सूतजी ने कहा—उनके आश्रम से उत्तर दिशा की ओर भगवान् त्रिपुरारि शिव के द्वारा निषेवित तथा कल्पद्रुमों से संयुत एवं अनेक प्रकार के रत्नों से परिपूर्ण शिखरों से समन्वित हिमवान् के मध्य में पृष्ठ पर कैलाश नाम वाला पर्वत है। उसमें कुबेर अपने गुह्यकों को साथ में लेकर निवास किया करते हैं।१-२। वहाँ पर अलकापुरी का स्वामी कुबेर राजा सर्वदा अप्सराओं से अनुगत होकर प्रसन्नता का अनुभव किया करते हैं। वहाँ कैलाश के पाद से समुत्पन्न परमरम्य एवं शुभ शीतल जल है।३। जो जल मन्दार नाम वाले देववृक्ष के रज पराग से पूरित रहा करता है और देव के ही सदृश है। उसी जल से एक मन्दाकिनी नाम वाली सरिता जो परम दिव्य है और अत्यन्त शुभ है वहन किया करती है।४। उस नदी के तीर पर ही वहाँ पर अतीव दिव्य एवं महान वन है जिसका शुभ नाम नन्दन है। कैलााश गिरि से पूर्वोत्तर में एक अति दिव्य सोगन्धिक गिरि है।५। यह समस्त धातुओं से परिपूर्ण दिव्य और पर्वत के प्रति सुन्दर वेल वाला है। एक चन्द्रप्रभ नाम वाला भी वहाँ पर पर्वत है जो परम शुभ्र और रत्न के तुल्य है।६। उसके ही समीप में एक परम दिव्य अच्छोद नाम से प्रसिद्ध सरोवर है। उस तट से एक शुभ अच्छोदिका नाम वाली नदी उत्पन्न होती है।७।

तस्यास्तीरे वनं दिव्यं महच्चैत्ररथं शुभम्।
तस्मिन् गिरौ निवसति मणिभद्रः सहानुगः।८।

यक्षसेनापतिः क्रूरो गुह्यकै परिवारितः।
पुण्या मन्दाकिनी नाम नदी ह्यच्छोका शुभा।९।

महीमण्डलमध्ये तु प्रविष्टे तु महादधिम् ।
कैलासदक्षिणे प्राच्यां शिवं सर्वौषधिं गिरिम्।

मनः शिलामयं दिव्यं सुवेलंपर्वतं प्रति।
लोहितो हेमश्रृंगस्तु गिरिः सूर्यप्रभो महान्।११।

तस्यपादे महाद्दिव्य लोहितं सुमहत्सरः।
तस्मिन् गिरो निवसति यक्षोमणिधरोवशी।१२।

दिव्यारण्यं विशोकञ्चतस्य तीरे महद्वनम्।
तस्मिन् गिरौ निवसति यक्षोमणिकरोवशी।१३।

सौभ्यैः सुधार्मिकैश्चैव गुह्यकैः परिवारियः।
कैलासात् पश्चिमोदीच्यां ककुद्मानौषधी गिरिः।१४।

उस अच्छोदिका सरिता के तट पर एक अत्यन्त शुभ-दिव्य और महान चैत्ररथ नाम वाला वन है। उसमें गिरि पर अपने अनुचरों के साथ मणिभद्र निवास किया करते हैं।८। यह यक्षों का अत्यन्त क्रूर सेनापति है जो सर्वदा गुह्यकों से परिवारित रहा करता है और वहाँ पर परम पुण्यमयी मन्दाकिनी नाम वाली अच्छोदिका शुभ नदी बहा करती है।९। यही मण्डल के मध्य में महोदधि में प्रविष्ट होने पर कैलाश के दक्षिण पूर्व में शिव सर्वोषधि गिरि है।१०। मैनसिल से परिपूर्ण पर्वत के प्रति सुबेल और दिव्य-हेम की शिखर वाला-लोहित नाम वाला एक महान सूर्यप्रभ गिरि है जिसकी प्रभा सूर्य के समान है। उस पर्वत के निचले भाग में महान् दिव्य लोहित नाम वाला ही एक सर है। उसी सर से लौहित्य नाम वाला एक विशाल नद वहन किया करता है।११-१२। उस नद के तीर एक अति महान्-दिव्य विशोका रूप है। उसमें पर्वत पर वशी यक्ष मणिधर निवास किया करता है। वह परम सौम्य और सुधार्मिक गुह्यकों से चारों ओर में घिरा हुआ रहा करता है। कैलाश पर्वत से पश्चिमोत्तर दिशा में ककुद्मान् नाम वाला औषधियों का गिरि है।१३-१४।

ककुद्मति च रूद्रस्य उत्पत्तिश्च ककुद्मिनः।
तदजनन्त्रैः ककुद शैलन्त्रिककुदं प्रति।१५।

सर्वधातुमयस्तत्रसुमहान् वैद्युतो गिरिः।
तस्य पादे महद्दिव्यं मानस सिद्धसेवितम्।१६।

तस्मात् प्रभवते पुण्या सरयूलोक्पवरी।
तस्यास्तीरे वनं दिव्यं वैभ्राजं नामविश्रुत।१७।

कुबेरानुचरस्तस्मिन् प्रहेतितनयो वशी।
ब्रह्मधाता निवसति राक्षसोऽनन्तविक्रमः।१८।

कैलासात् पश्चिमामाशां दिव्यः सर्वौषधिर्गिरिः।
अरूणः पर्वतश्रेष्ठो रुक्मधातुविभूषितः।१९।
भवस्य दयितः श्रीमान्पार्वतोहेमसन्निभः।

उस ककुद्मान् में ककुद्मी रूद्र की उत्पत्ति होती है। वह बिना जन वाला त्रिककुद के प्रति त्रैककुद शैल है।१५। वहीं पर सम्पूर्ण धातुओं से परिपूर्ण एक अत्यन्त महान् वैद्युत नाम वाला गिरि है। उस पर्वत के पाद में एक अत्यन्त दिव्य मानस वाला सरोवर है जो सदा सिद्धों के द्वारा सेवित रहा करता है।१६। उस सरोवर से परम पुण्यमयी लोकों को पावन कर देने वाली सरयू नाम वाली नदी समुत्पन्न हुआ करती है। उसके तट पर एक अत्यन्त विशाल वैभ्राज्य नाम से प्रसिद्ध दिव्य वन है।१७। वहाँ पर कुबेर का अनुचर वशी प्रोहित का पुत्र ब्रह्मधाता निवास किया करता है वह राक्षस अनन्त विक्रम वाला था।१८। कैलाश पर्वत से पश्चिम दिशा में एक अति दिव्य सर्वौषधि गिरि यह पर्वत सम्पूर्ण पर्वतों में श्रेष्ठ वर्ण वाला और रुक्म (सुवर्ण) धातु

से विभूषित होता है।१९।

अस्त्युत्तरेण कैलासाच्छिवः सेर्वोषधोगिरिः।
गोरन्तु पर्वतश्रेष्ठं हरितालमयं प्रति।२४।

हिरण्यश्रृंगः सुमहान् दिव्यौषधिमयो गिरिः।
तस्यपादे महद्दिव्यं सरः काञ्चनबालुकम्।२५।

रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः।
गंगार्थे स तु राजर्षरुवाम बहुलाः समा।२६।

उस सर से परम पुण्यमयी और अत्यन्त शुभ शैलोदका नाम वाली नदी समुत्पन्न होकर बहती है। वह उन दोनों के मध्य में चक्षुषी पश्चिम सागर में प्रविष्ट होती है।२३। कैलाश के उत्तर भाग में सवेषिध शिवगिरि है। यह श्रेष्ठ पर्वत गौर हरिताल मय ही होता है। हिरण्य भृंग बहुत ही महान् और दिव्यौषधियों से परिपूर्ण गिरि है। उसके चरणों के भाग में एक महान् दिव्य सर है जिसकी बालुका काञ्चनमयी है। वहाँ पर एक परम रम्य बिन्दुसर नाम वाला सरोवर है जहाँ पर गंगा के लाने के लिये तपश्चर्या करता हुआ राजर्षि राजा भगीरथ बहुत से वर्षों तक रहा था। २४-२६। मत्स्य पुराण के इस वर्णन में ८वें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ जिनके नाम पर कैलाश के पूर्व में एक पर्वत है। दूसरा यक्ष मणिभद्र का वर्णन जिनकी मान्यता का प्रभाव आज भी जैन मन्दिरों में परिलक्षित होता है। यक्ष मान्यता जैनियों में अनादि काल से प्रचलित है। ऋषभदेव स्वामी के निर्वाण स्थल पर मणिभद्र यक्ष का वास यक्षों की परम्परा को प्राचीन जैन परम्परा से सीधा जोड़ता है । जैन साहित्य में मणिभद्र यक्ष के प्रभाव सम्बन्धी अनेक वर्णन मिलते हैं। महुडी (गुजरात) में घण्टाकर्ण की मान्यता जैन समाज में बहुत है और यही घण्टाकर्ण बद्रीनाथ पर्वत के क्षेत्रपाल हैं। जिस तरह शिखरजी पर्वत के भूमिया जी, बद्रीनाथ पर्वत के घण्टाकर्ण उसी तरह कैलाश के क्षेत्रपाल मणिभद्र यक्ष हैं।

तिब्बती मान्यता में यह कहा जाता है कि बुद्ध भगवान् ने इस आशंका से कि कहीं यक्षगण इसके शिखर को उखाड़कर ऊपर न ले जाएँ, इसे चारों ओर से अपने पैरों से दबाकर रखा है (कैलाश के चारों ओर बुद्ध भगवान् के चार पद-चिन्ह हैं ऐसा कहा जाता है।) तथा नाग लोग कहीं इसे पाताल में न ले जाएँ, इस डर से इसके चारों ओर सांकलें बनाई गई हैं। कैलाश का अधिष्ठात देवता देमछोक है, जो पावों के नाम से भी पुकारा जाता है। वह व्याध चर्म का परिधान और नर-मुण्डों की माला धारण करता है। उसके एक हाथ में डमरू और दुसरे में त्रिशूल है। इसके चारों ओर ऐसे ही आभूषणों से आभूषित प्रत्येक पंक्ति में पाँच सौ की संख्या से नौ सौ नब्बे पंक्तियों में अन्यान्य देवगण बैठे हुए हैं। देमछोक के पार्श्व में खड़ो या एकाजती नामक देवी विराजमान हैं। इस कैलाश शिखर के दक्षिण भाग में वानरराज हनुमानजी आसीन हैं। इसके अतिरिक्त कैलाश और मानसरोवर में शेष अन्य देवगणों का निवास है। यह कथा कडरी-करछर नामक तिब्बती कैलाश-पुराण में विस्तृत रूप से वर्णित है। उपर्युक्त देवताओं के दर्शन किसी-किसी पुण्यात्मा अथवा उच्च कोटि के लामा को ही हो सकते हैं। कैलाश के शिखर पर मृदंग, घंटा, ताल, शंख आदि और अन्य कतिपय वाद्यों का स्वर सुनायी पड़ता है।

वाल्मीकि० किष्किन्धा ४३ में सुग्रीव ने शतबल वानर की सेना को उत्तरदिशा की ओर भेजते हुए उस दिशा के स्थानों में कैलाश का भी उल्लेख किया है— **ततु शीघ्रमतिक्रम्ब कान्तारे रोमहर्षणम-कैलामं पांडुरं प्राप्य हष्टा युयं भविष्यथ** अर्थात् उस भयानक बन को पार करने के पश्चात् श्वेत (हिममंडित) कैलाश पर्वत को देखकर तुम प्रसन्न हो जाओगे।

"Kangri Karchhak...the Tibetan Kailas Purana....says, that Kailas is in the centre of the whole universe towering right up into the sky like the handle of a mill-stone, that half-way on its side is Kalpa Vriksha (wish-fulfilling tree), that it has square sides of gold and jewels, that the eastern face is crystal, the southern sapphire, the western ruby, and the northern gold, that the peak is clothed in fragrant flowers and herbs, that there are four footprints of

गच्छामः शरणं देवं शूलपाणि त्रिलोचनम्ः
प्रसादाद् देव देवस्य भविष्यथ यथा पुरा।।२।।

इत्युक्ता ब्राह्मणा सद्भि कैलासं गिरिमुत्तमम्
दद्दशुस्ते समासीन मुमया सहितं हरम्।।३।।

ब्रह्माजी ने कहा तीन नेत्र वाले शूलपाणि देव की शरणगति में चलें। देवों के भी देव के प्रसाद से जैसा पहले था सब हो जायेगा। ब्रह्मा द्वारा इस प्रकार कहे गये वे सब ब्रह्माजी के साथ में उत्तम कैलाश गिरि पर गये और वहाँ पर उमा के साथ बैठे हुए भगवान् हर का इन्होंने दर्शन किया।

वामन पुराण भाग दो (५४ अ०) में लिखा है.....

ततश्चकार शर्वस्य गृहं स्वस्तिकलक्षणम्
योजनानि चतुः षष्टि प्रमाणेन हिरण्मयम्।।२।।

दन्ततोरण निर्व्यूहं मुक्ताजालान्तरं शुभम्
शुद्ध स्फटिक सोपानं वैडूर्य कृतस्पकम्।।३।।

इसके पश्चात् विश्वकर्मा ने भगवान् शिव के लिये स्वस्तिक लक्षण वाला गृह निर्मित किया था। जो हिरण्यमय था और प्रमाण में चौंसठ योजन के विस्तार वाला था।।२।। उस गृह में दन्त तोरण थे और मुक्ताओं के जालों से अन्दर शोभित हो रहा था जिसमें शुद्ध स्फटिक मणि के सोपान (सीढ़ियाँ) थीं जिनमें वैडूर्य मणि की रचना थी ।।३।।

वामन पुराण के इन उल्लेखों में कैलाश में स्फटिक मणि की सीढ़ियों का वर्णन मिलता है जो अष्टापद में आठ सोपानों से साम्य रखता है। इसके अतिरिक्त शूलपाणि का वर्णन है। भगवान् महावीर के समय भी शूलपाणि यक्षायतन का वर्णन जैन साहित्य में मिलता है।

कर्नल टॉड ने अपनी किताब Annals of Rajasthan में लिखा है.... ''इस आदि पर्वत को महादेव आदीश्वर वा बागेश का निवास स्थान बताते हैं और जैन आदिनाथ का अर्थात् प्रथम जिनेश्वर का वासस्थान मानते हैं । उनके कथानुसार उन्होंने यहीं पर मनुष्य जाति को कृषि और सभ्यता की प्रथम शिक्षा दी थी। यूनानी लोग इसे बैकस का निवास स्थान होना प्रगट करते हैं और इसी से यह यूनानी कथा चली आ रही है कि यह देवता जुपिटर की जंघा से उत्पन्न हुआ।''

यूनानी और रोमन लोग भी कैलाश से परिचित थे। Pococke ने अपनी किताब 'India In Greece' (पेज ६८) में लिखा है Koilon is the heaven of Greeks and coelum that of the Romans. Both these derive from Vedic term Kailas–

वास्तु शिल्प के प्रमुख प्रणेता विश्वकर्मा माने जाते हैं। जिनके नाम से प्राप्त अपराजित शिल्पशास्त्र में महादेव और पार्वती सम्वाद रूप में ३५ श्लोक प्राप्त होते हैं जिसमें सुमेरू शिखर पर ऋषभदेव की भव्य प्रतिमा को देखकर पार्वती महादेव से प्रश्न करती है और महादेवी जी द्वारा प्रभु का जो वर्णन किया गया वह इस प्रकार है—

सुमेरू शिखरं दृष्टवा, गौरी पृच्छति शंकरम्।
कोऽयं पर्वत इत्येष कस्येदं मंदि्रं प्रभो ! ।।१।।

सुमेरू शिखर को देखकर गौरी शंकर को पूछती है कि प्रभो ! यह कौन-सा पर्वत है और किसका मन्दिर हैं?

कोऽयं मध्ये पुन देवः? पादान्ता का च नायिका?।
किमिदं चक्र मित्यत्र?, तदन्ते को मृगो मृगी? ।।२।।

उस मन्दिर के मध्य भाग में ये कौन-से देव विराजमान हैं ? और उनके पगों के नीचे देवी कौन है ? इस परिकर में जो चक्र है ये क्या है ? और उनके नीचे ये मृग और मृगी भी कौन हैं ?

के वा सिंह गजाः के वा? के चामी पुरूषा नव?।
यक्षो वा यक्षिणी केयं? के वा चामरधारकः? ।।३।।

ये सिंह, हाथी, नौ पुरुष, यक्ष और यक्षिणी तथा चामरधारी ये सब कौन हैं ?

के वा मालाधरा एते? गजारूढाश्च के नराः?।
एतावपि महादेव !, कौ वीणा वंश वादकौ? ।।४।।

हे महादेव ! ये माला धारण करने वाले, गजारूढ मनुष्य और वीणा, वंशी को बजाने वाले ये कौन हैं ?

दुन्दुभेर्वादकः को वा?, को वाऽयं शंखवादकः?।
छत्र त्रय मिदं किं वा?, किं वा भामण्डलं प्रभो ! ।।५।।

हे प्रभो ! ये दुन्दुभि बजाने वाले, शंख बजाने वाले कौन हैं ? ये तीन छत्र और भामण्डल क्या हैं ?

श्रृणु देवि महागौरी! यत्त्वया पुष्ट मुत्तमम्।
कोऽयं पर्वत इत्येष कस्येदं मन्दिरं? प्रभो ! ।।६।।

हे पार्वती देवी ! तुमने जो पूछा कि यह पर्वत कौन सा है ? किसका मन्दिर है, यह प्रश्न उत्तम है।

पर्वतो मेरू रित्येष स्वर्णरत्न विभूषितः।
सर्वज्ञ मन्दिंर चैतद्, रत्न तोरण मण्डितम् ।।७।।

स्वर्ण और रत्नों से युक्त यह मेरू पर्वत है और रत्नमय तोरण से सुशोभित यह सर्वज्ञ भगवान् का मन्दिर है।

अयं मध्ये पुनः साक्षाद्, सर्वज्ञो जगदीश्वरः।
त्रयस्त्रिंशत कोटि संख्या, यं सेवन्ते सुरा अपि।।८।।

फिर इसके मध्य में हैं वे साक्षात् सर्वज्ञ प्रभु हैं जो तीन जगत् के ईश्वर हैं और उनकी तेतीस करोड़ देवता सेवा करते हैं।

इन्द्रियैर्न् जितो नित्यं, केवलज्ञान निर्मलः
पारंगतो भवाम्भोधे, र्यो लोकान्ते वसत्यलम् ।।९।।

जो प्रभु, इन्द्रियों के विषयों से कभी जीते नहीं गए, जो केवलज्ञान से निर्मल हैं एवं जो भवसागर से पार हो गए और लोक के अन्तिम भाग-मोक्ष में निवास करते हैं।

अनन्त रूपो यस्तत्र कषायैः परिवर्जितः
यस्य चित्ते कृतस्थाना दोषा अष्टदशापि न।।१०।।

वे मोक्ष स्थित प्रभु अनन्त रूप-ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य अनन्त चतुष्टय-के धारण करने वाले हैं, कषायों से रहित हैं और जिनके चित्र में अठारह दोषों ने स्थान नहीं किया है।

लिंगरूपेण यस्तत्र, पुंरूपेणात्र वर्त्तते।
राग द्वेष व्यतिक्रान्तः, स एष परमेश्वरः।।११।।

वे वहाँ मोक्ष में लिंगरूप-ज्योति रूप में हैं और यहाँ पुरुष-प्रतिमा रूप में वर्त्तते हैं, राग-द्वेष से रहित ऐसे ये परमेश्वर हैं।

आदि शक्तिर्जिनेन्द्रस्य, आसने गर्भ संस्थिता।
सहजा कुलजा ध्याने, पद्महस्ता वरप्रदा।।१२।।

ध्यान स्थित प्रभु के परिकर के आसन के मध्य भाग में स्थित कर कमलों से वर देने वाली मुद्रा में आदिशक्ति श्रुतदेवी-सरस्वती जिनेन्द्र के साथ ही उनके कुल में जन्मी हुई हैं ।

धर्म चक्र भिंद देविमिंद ! धर्म मार्ग प्रवर्त्तकम्।
सत्त्वं नाम मृगस्सोयं मृगी च करूणा मता ।।१३।।

हे देवी ! यह धर्मचक्र, धर्ममार्ग का प्रवर्त्तकम है यह सत्व नामक मृग और करुणा नामक मृगी है।

अष्टौ च दिग्गजा एते, गजसिंह स्वरूपतः।
आदित्याद्या ग्रहा एते, नवैव पुरूषाः स्मृताः।।१४।।

ये हाथी और सिंह के स्वरूप वाले आठ दिशा रूपी दिग्गज-हाथी हैं और ये नौ पुरुष सूर्य आदि नव ग्रह हैं।

यक्षोंऽयं गोमुखो नाम, आदिनाथस्य सेवकः।।
यक्षिणी रुचिराकारा, नाम्ना चक्रेश्वरी मता ।।१५।।

यह आदिनाथ-ऋषभदेव भगवान् का सेवक गोमुख नामक यक्ष और यह सुन्दर आकृति वाली यक्षिणी चक्रेश्वरी नामक देवी लोक में प्रसिद्ध है।

इन्द्रो पेन्द्राः स्वयं भर्त्तु र्जाता श्चामर धारकाः।
पारिजातो वसन्तश्च, मालाधरतया स्थितौ ।।१६।।

इन्द्र और उपेन्द्र स्वयमेव प्रभु को चामर ढुलाने वाले हैं। पारिजात वृक्ष और वसन्त ऋतु मालाधारण रूप में स्थित हैं।

स्नात्रं कर्त्तुं समायाताः सर्व संताप नाशनम्।
कर्पूर-कुङ् कुमा दीनां, धारयन्तो जलं बहु ।।१८।।

कर्पूर-केशर आदि के पानी को धारण करने वाले बहुत से देव सर्व सन्ताप नाशक स्नात्र-महोत्सव करने के लिए आये हैं।

यथा लक्ष्मी समाक्रान्तं याचमाना निजं पद्म।
तथा मुक्तिपदं कान्त मनन्त सुख कारणम् ।।१९।।

जैसे लोग लक्ष्मी से परिपूर्ण अपने पद याचना करते हैं उसी प्रकार उपरोक्त देव भी सुन्दर अनन्त सुख के कारणभूत मोक्ष पद की याचना करते हैं।

हू हू तुम्बरू नामानौ, तौ वीणा वंश वादकौ।
अनन्त गुण संघातं, गायन्तौ जगतां प्रभोः ।।२०।।

तीन लोक के प्रभु के अनन्त गुण समूह को गाने वाले ये हू हू और तुम्बरू नामक वीणा और बंशी बजाने वाले देव हैं।

वाद्यमेकोन पञ्चाशद् भेदभिन्न मनेकथा।
चतुर्विधा अमी देवा वादयन्ति स्व भक्तितः ।।२१।।

ये चारों प्रकार के देव अपनी भक्ति से अनेक प्रकार के भेद से ४९ प्रकार के वाजित्रों को बजाते हैं।

सोऽयं देवी महादेवी! दैत्यारिः शंखवादकः।
नाना रूपाणि बिभ्राण एक कोऽपि सुरेश्वरः ।।२२।।

हे महादेवी ! ये शंख बजाने वाले, दैत्यों के शत्रु हैं और एक होने पर भी अनेक रूपों को धारण करने वाले देवताओं के ईश्वरअधिपति इन्द्र हैं।

जगत्त्रयाधिपत्यस्य, हेतु र्छत्र त्रयं प्रभोः।
अमी च द्वादशादित्या जाता भामण्डलं प्रभोः।।२३।।

ये तीन लोक का स्वामित्व बताने वाले प्रभु के हेतु भूत तीन छत्र हैं और ये बारह सूर्य प्रभू के भामंडल रूप हो गए हैं।

पृष्ठ लग्ना अमी देवा याचन्ते मोक्षमुत्तमम्।
एवं सर्व गुणोपेतः सर्व सिद्धि प्रदायकः ।।२४।।

ये पीछे रहे हुए देव उत्तम प्रकार के मोक्ष पद को माँगते हैं। इस प्रकार ये प्रभु सर्व गुणों से युक्त और सर्व प्रकार की सिद्धि को देने वाले हैं।

एष एव महादेव! सर्व देव नमस्कृतः।
गोप्याद् गोप्यतरः श्रेष्ठो व्यक्ताव्यक्ततया स्थितः।।२५।।

हे महादेवी ! यही प्रभु समस्त देवों द्वारा नमस्कृत हैं, रक्षणीय वस्तुओं में सबसे अधिक रक्षणीय होने से श्रेष्ठ हैं और प्रगट व अप्रगट स्वरूप में स्थित हैं।

आदित्याद्या भूमन्त्येते, यं नमस्कर्तु मुद्यताः।
कालो दिवस-रात्रिभ्यां यस्य सेवा विधायकः ।।२६।।

वर्षा कालोष्ण कालादि शीत कालादि वेष भृत।
यत्पूजाऽर्थ कृता धात्रा, आकरा मलयादयः ।।२७।।

जिन प्रभु को नमस्कार करने में उद्यमशील सूर्यादि भ्रमणकर रहे हैं। वर्षा-उष्ण और शीतकालरूपी वेष धारणकर यह काल-समय दिन और रात्रि द्वारा जिनकी सेवा करने वाला है। और जिनकी सेवा-पूजा के लिये ही विधाता ब्रह्मा ने खानें और मलयाचलादि बनाये हैं।

काश्मीरे कुङ्कुमं, देवि ! यत्पूजाऽर्थ विनिर्मितम्।
रोहणे सर्व रत्नानि, यद्भूषण कृते व्यधात् ।।२८।।

हे देवी ! ब्रह्माजी ने फिर इनकी पूजा के लिए काश्मीर में कुंकुम-केसर बनाई है और रोहणगिरि पर सभी प्रकार के रत्न जिनके आभूषण अलंकार के लिए बनाये हैं।

रत्नाकरोऽपि रत्नानि, यत्पूजाऽर्थ च धारयेत्।
तारकाः कुसुमायन्ते, भ्रमन्तो यस्य सर्वतः ।।२९।।

समुद्र भी जिनकी पूजा के लिये रत्न धारण करता है और जिनके आस-पास भ्रमण करने वाले तारे भी पुष्प की भाँति परिलक्षित होते हैं।

एवं सामर्थ्य मस्यैव, ना परस्य प्रकीर्त्तितम्।
अनेन सर्व कार्याणि, सिध्यन्तो त्यवधारय ।।३०।।

इस प्रकार प्रभु के सामर्थ्य-बल का जैसा लोक में कीर्त्तन हुआ है, दूसरे किसी का नहीं। अतः इन्हीं प्रभु के द्वारा सारे कार्य सिद्ध होते हैं, ऐसा ही देवी ! तुम जान लो !

परात्पर मिदं रूपं ध्येयाद् ध्येयमिदं परम्
अस्य प्रेरकता दृष्टा चराचर जगत्त्रये।।३१।।

श्रेष्ठ पुरुषों से भी जिनका रूप श्रेष्ठ-उत्तम है और वह रूप ध्यान करने योग्य श्रेष्ठपुरुषों से भी श्रेष्ठ तथा ध्यान करने योग्य है। इस चराचर तीन जगत् में इन्हीं प्रभु की प्रेरणा दिखाई देती है।

दिग्पालेष्वपि सर्वेषु, ग्रहेषु निखिलेष्वपि।
ख्यातः सर्वेषु देवेषु, इन्द्रोपेन्द्रेषु सर्वदा ।।३२।।

सभी दिग्पालों में, सभी ग्रहों में, सभी देवों और इन्द्र उपेन्द्रों में भी ये प्रभु सर्वदा प्रसिद्ध हैं।

इति श्रुत्वा शिवाद् गौरी, पूजयामास सादरम्।
स्मरन्ती लिंगरूपणे, लोकान्ते वासिनं जिनम् ।।३३।।

गौरी-पार्वती ने महादेव-शिव से यह वर्णन सुनकर लोकान्त मोक्षस्थित इन जिनेश्वर प्रभु की ज्योति रूप से स्मरण करते हुए आदर पूर्वक पूजा की।

ब्रह्मा विष्णु स्तथा शक्रो लोकपालस्स देवताः।
जिनार्चन रता एते, मानुषेषु च का कथा? ।।३४।।

ब्रह्मा, विष्णु, शुक्र और देवों सह सारे लोकपाल भी इन जिनेश्वर भगवान् की पूजा में तल्लीन हैं तो फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या?

जानु द्वयं शिरश्चैव, यस्य घष्टं नमस्यतः।
जिनस्य पुरतो देवि! स यादि परमं पदम् ।।३५।।

हे देवी ! जिनेश्वर प्रभु को नमस्कार करते हुए जिसके दोनों जानु गोडे और मस्तक घिस गये हैं वही परम पद-मोक्ष प्राप्त करता है ।

वास्तुशिल्प शास्त्र के शिव पार्वती उवाच में ऋषभदेव का महात्म्य ऋषभदेव की प्रमाणिकता की पुष्टि करता है।

सभी धर्मों का प्रेरणा स्रोत कैलाश है। यहाँ की तीर्थयात्रा प्रतिवर्ष हजारों यात्री करते हैं । यह क्षेत्र प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव का निर्वाण स्थल है साथ ही यह क्षेत्र पुराणों आदि ग्रन्थों में शिव के नाम से भी जुड़ा है । तिब्बती भाषा में शिव का अर्थ मुक्त होता है । इसी लिये भगवान् ऋषभदेव को भी कहीं-कहीं शिव के नाम से भी अभिहित किया गया है......

कैलाश पर्वते रम्ये वृषभो यं जिनेश्वर
चकार स्वारतारं यः सर्वज्ञ सर्वगः शिवः

--स्कन्ध पुराण कौमार खण्ड अ० ३७

केवलज्ञान द्वारा सर्वव्यापी, सर्वज्ञाता परम कल्याण रूप शिव वृषभ ऋषभदेव जिनेश्वर मनोहर कैलाश-अष्टापद पर पधारे ।

तिब्बती भाषा में लिंग का अर्थ क्षेत्र होता है- "It may be mention that Linga is a Tibetan word of Land" (S.K. Roy - History Indian & Ancient Eygpt. pg. 28). तिब्बती लोग इस पर्वत को पवित्र मानकर अति श्रद्धा के साथ पूजा करते हैं तथा इसे बुद्ध का निर्वाणक्षेत्र कागरिक पौंच कहते हैं । यहाँ बुद्ध का अर्थ अर्हत से है जो बुद्ध अर्थात् ज्ञानी थे। शिवलिंग का अर्थ मुक्त क्षेत्र अर्थात् मोक्ष क्षेत्र होता है । शिव भक्त भी लिंग पूजा करते थे । जो प्राचीन काल में भी प्रचलित था- "In fact Shiva and the worship of Linga and other features of popular Hinduism were well established in India long before the Aryans came" (K.M. Pannekar "A survey of Indian History' Pg-4), बाद में तान्त्रिकों ने इसका अर्थ अर्हत धर्म के विपरीत बनाकर विकृत कर दिया ।

कैलाश का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है । शिव और ब्रह्मा ने यहाँ तपस्या की थी, मरिचि और वशिष्ट आदि ऋषियों ने भी यहाँ तप किया था । चक्रवर्ती सगर के पूर्वज मन्धाता के यहाँ आने का वर्णन मिलता है । गुरुला मन्धाता पर्वत पर उन्होंने तपस्या की थी । ऐसा कहा जाता है कि गुरुला मन्धाता पर्वत की शृंखला को उपर से देखें तो एक बड़े आकार के स्वस्तिक के रूप में दिखाई देता है । "The Bonpo the ancient pre Buddhist Tibetan religion refers to it as a "Nine Storey' Swastik Mountain" बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी इस क्षेत्र में आये थे ऐसा तिब्बती ग्रन्थों में वर्णन है । राक्षस ताल के जिस द्वीप पर उन्होंने तपस्या की थी उसका स्वरूप कूर्म की तरह था । स्वामी तपोवन के अनुसार राम और लक्ष्मण भी यहाँ आये थे- On the road from Badrinath to Kailas one can see the foot prints of the two horses on which Rama and Laxman were riding when they went to Kailas. जैन और जैनेतर दोनों ग्रन्थों में रावण का अष्टापद जाने का विवरण मिलता है । जैन शास्त्र में वर्णित इस घटना के विवरण का कागड़ा जिले के नर्मदेश्वर मन्दिर की एक दीवार पर बने चित्र से भी पुष्टि होती है । इस विषय में मीरा सेठ ने अपनी किताब "Wall paintings of the Western Himalayas" में लिखा है "In one of the panel Rawana in his annoyance being ignore by Shiva is trying to shake Kailas." यहाँ बालि की जगह शिव को बताया गया है । स्वामी तपोवन ने भी राक्षस ताल में रावण ने तप किया था ऐसा उल्लेख किया है । यह कहा जाता है कि दत्तात्रेय मुनि ने यहाँ तपस्या की थी । महाभारत में भी कैलाश मानसरोवर से सम्बन्धित अनेक उल्लेख मिलते हैं जिनमें व्यासमुनि भीम, अर्जुन और कृष्ण के कई बार मानसरोवर जाने का उल्लेख है । जोशीमठ और बद्रीनाथ के

बीच पाण्डुकेश्वर से प्राप्त एक ताम्रलेख में वर्णन है कि एक कत्तचुरी राजा ललितसुर देव और देशतदेव ने इस क्षेत्र को अधिकृत किया था । ह्वेनसांग और इत्सिन आदि यात्रियों ने भारत में इसी क्षेत्र से प्रवेश किया था । जगत गुरु शंकराचार्य के जीवन चरित्र में कैलाश के निकट अपना शरीर छोड़कर योग द्वारा कुछ समय के लिये परकाया में प्रवेश का वर्णन है । कांगरी करछक में वर्णन है कि Geva Gozangba द्वारा कैलाश परिक्रमा पथ की खोज सबसे पहले की गई । ऐसा कहा जाता है कि भारत से सप्त ऋषि यहाँ आये थे । आचार्य शांतरक्षित और गुरु पद्मसम्भव नें भी यहाँ की यात्रा की थी । लेकिन इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है । Lochava (Tibetan translator) और Rinchhenzanbo 1958-1058 में यहाँ आये थे और बारह वर्ष खोचर में रहे थे । उनकी गद्दी आज भी वहाँ पर है । १०२७ ई. में पण्डित सोमनाथ जिन्होंने ''कालचक्र ज्योतिष'' का तिब्बती भाषा में अनुवाद किया था उनके साथ पं. लक्ष्मीकर और धनश्री यहां आये थे । ११वीं शताब्दी में महान् तांत्रिक सिद्ध मिलरेपा ने यहाँ नग्न रह कई वर्ष तपस्या की थी । कैलाश पुराण में उनके चमत्कारों का वर्णन मिलता है । मिलरेपा के गुरु लामाकारपा और उनके गुरु तिलोपा ने कैलाश यात्रा की थी । सन् १०४२ में विक्रमशिला विद्यालय के आचार्य दीपांकर ने यहाँ पर बौद्ध धर्म का प्रचार किया और कई किताबें भी लिखीं । कैलाश मानसरोवर की सदियों से प्रचलित तीर्थयात्रा १९५९ से १९८० तक बन्द रहने के बाद १९८१ में पुनः प्रारम्भ हुई । उससे पूर्व तथा बाद में अनेक महत्त्वपूर्ण लोग इस क्षेत्र में गये और उन्होंने अपनी यात्रा का विवरण अपने लेखों में दिया । यूरोपीय विद्वानों ने भी यहाँ की यात्रा की और महत्त्वपूर्ण खोजें भी कीं परन्तु कैलाश की पवित्रता का पूर्णतः सम्मान करते हुए ।

सन् १८१२ ई० में William Moor Craft इस क्षेत्र में आये थे और मानसरोवर पर अपना शोध किया था....."The first Europeans to explore the holy lakes were William Moorcroft, whose name will ever be remembered in connection with the tragic fate of the Mission to Bokhara in 1825, and Hyder Hearsey, whose wife was a daughter of the Mogul Emperor Akbar-II."

"In 1812 Moorcroft and Hearsey, disguised as ascetics making a pilgrimage, entered Tibet by the Niti Pass in Garhwal, visited Gartok, which had then, as now, only a few houses, traders living in tents during the fair season, explored Rakashas and Mansarovar Lakes and saw the source of the Sutlaj river."

"It was in 1824 that the first Russian caravan visited bokhara. On their return to the Almora district the two explorers were arrested by the Nepalese soldiers, but subsequently after some trouble were released (vide "Journal Royal Geog.Soc.," xxxvi.2)." (Western Tibet).

सन् १८९८ ई. में लिखित In The Forbidden Land (Vol-1) में A. Henry Savage landor ने १६६०० ft. पर Lama Chokden Pass से कैलाश के सौन्दर्य का वर्णन किया है - "I happened to witness a very beautiful sight. To the north the clouds had dispersed, and the snow-capped sacred Kelas Mount stood majestic before us. In appearance no unlike the graceful roof of a temple, Kelas towers over the long white-capped range, contrasting in beautiful blending of tints with the warm sienna colour of the lower elevations. Kelas is some two thousand feet higher than the other peaks of the Gangir chain, with strongly defined ledges and terraces marking its stratifications, and covered with horizontal layers of snow standing out in brilliant colour against the dark ice worn rock. (In the forbidden land pg. 184)

कैलाश परिक्रमा पथ पर १८०० फीट उपर Dolma-La, a pass के विषय में The Throne Of The God Ea Arnorld Heim and August Gansser ने लिखा है— "Now we are on pilgrimage to Dolma-La, a pass over 18,000 feet high, the highest in the circuit of Kailas. A forest of cairns indicates the holiness of the place. Great piles of human hair are encircled by little walls. A rock is covered with teeth that have been extracted– religious sacrifices made by fanatical pilgrims. Huge and savage granite crags border the pass, which is covered with new-fallen snow. My companions kneel at the tomb of a saint. Hard by is a rock showing what are said to be the holy man's footprints." ""Beside Dolma-La is an enormous crag surmounted by a flag staff......" (pg.102).

आगे कैलाश के विषय में उन्होंने लिखा है— "All that is beautiful is sacred" the fundamental idea of Asiatic religions is embodied in one of the most magnificent temples I have ever seen, a sunlight temple of rock and ice. Its remarkable structure, and the peculiar harmony of its shape, justify my speaking of Kailas as the most sacred mountain in the world. Here is a meeting-place of the greatest religions of the East, and the difficult journey round the temple of the gods purifes the soul from earthly sins. The remarkable position of this mountain that towers out of the Transhimalayan plateau already indicates that it must present extremely interesting geological problems for solution. "This mountain is just as sacred to me as it is to you, for I too am a pilgrim, just as those two lamas who passed a moment ago are pilgrims. Like you, like them, I am in search of the beautiful, the sacred in this wonderful mountain.'... "The very stones of this region are sacred, and to collect specimens is sacrilege." (pg.97-98).

"It is believed that one parikrama of the Kailas peak washes off the sin of one life, circuits wash off the sin of one kalpa, and 108 parikramas secure Nirvana in this very life." अर्थात् यह माना जाता है कि कैलाश की एक परिक्रमा एक जीवन के सारे पापों का क्षय कर देती है। १० परिक्रमा एक कल्प के पापों का क्षय कर देती है। और १०८ परिक्रमा करने से इसी जन्म में निर्वाण प्राप्त होता है।

इस क्षेत्र में हर बारह वर्ष में एक मेला लगता है........ There is a big flag-staff called tarbochhe at Sershung on the western side of Kailas. A big fair is held there on Vaisakha Sukla Chaturdasi and Purnima (full - moon day in the month of May), when the old flag-staff is dug out and re-hoisted with new flags." "Every horse year, and accordingly every tweleth year, crowds of pilgrims come to Kailas." (Exploration In Tibet)

चतुर्विध संघ की स्थापना करके ऋषभदेव इस अवसर्पिणी काल के आदि तीर्थंकर बने। समवसरण में उनकी देशना होने के उपरान्त अखण्ड तूष रहित उज्ज्वल शाल से बनाया हुआ चार प्रस्थ जितना बलि (अर्थात्- बिना टूटे साफ सफेद चावल) थाली में रख करके समवसरण के पूर्व द्वार से अन्दर लाया गया और प्रभु की प्रदक्षिणा कर उछाल दिया गया। उसके आधे भाग को देवताओं ने ग्रहण कर लिया जो पृथ्वी पर गिरा उसका आधा भरत ने और आधा भाग परिवार जनों ने बांट लिया। उन बलि चावलों का ऐसा प्रभाव माना जाता है कि उसके प्रयोग से पुराने रोग नष्ट हो जाते हैं और छः महीने तक नये रोग नहीं होते। आज भी कैलाश की परिक्रमा करते तीर्थयात्री वहाँ चावल अर्पण करते हैं जिसका उल्लेख 'Throne Of The God' में लेखक ने किया है..... "There are endless chains of red, brown, and yellow mountains, incredibly clear. On the far horizon we discern a new mountain range, pastel blue in the distance, with yellow

glaciers. This is Transhimalaya. Out of the vast extent of these new peaks there thrusts up a white cone, a mountain of strange shape, Kailas, the holy of holies of the Asiatic religion. My companions are motionless, the snow reaching to their hips, while they say their prayers. Each of us offers up to Kailas a handful of rice, scattered down the wind which blows towards the mountain." (The Throne Of The Gods)

बंगाल, बिहार और उड़ीसा के प्राचीन सराक जाति के लोगों में भी बीस तीर्थंकरों की निर्वाण भूमि पारसनाथ (शिखर जी) की दिशा में धान (चावल) अर्पण करने की परम्परा आज भी देखने को मिलते हैं। जो अष्टापद पर चावल चढ़ाने, उछालने की प्राचीन परम्परा का प्रतीक है। सराकों के गोत्र पिता आदिनाथ या ऋषभनाथ हैं। मन्दिरों में चावल चढ़ाने की प्रथा भी इसी प्राचीन परम्परा से चली आ रही है। चावल की सिद्ध शिला जिसका आकार अर्द्ध चन्द्राकार बनाकर उसपर मुक्त जीव का बिन्दु आकार बनाया जाता है। सिद्ध शिला के प्रतीक चन्द्र बिन्दु के नीचे सम्यक दर्शन, ज्ञान और चारित्र का प्रतीक तीन बिन्दु बनाये जाते हैं। उसके पश्चात् स्वस्तिक ।

Sven Hedin ने कैलाश के विषय में कहा है– The holy ice mountain or the ice jewel is one of my most memorable recollections of Tebet, and I quite understand how the Tebetan can regard as a divine sancturary this wonderful mountain which so striking a resemblance to a chhorten, the movment which is erected in memory of a deceased saint within or without the temples. (pg.96) ऋषभदेव स्वामी के निर्वाण स्थल पर स्तूप निर्माण की जैन शास्त्रों में दिये गये उल्लेखों की पुष्टि Sven Hedin के इस वर्णन से होती है जो उन्होंने कैलाश परिक्रमा करते समय डिरिपू गुफा से आगे चलने पर किया है– "On our left, northwards the mountain consist of vertical fissured granite in wild pyramidal form. Kailash is protected on the north by immense masses of granite" (Pg.195) कैलाश तथा उसके आस-पास प्रचुरता से मारबल पत्थर की बनी प्राचीरें आदि वहाँ प्राचीन काल में चैत्यों और स्तूप निर्मित होने की पुष्टि करते हैं। श्री भरत हंसराज शाह ने सन् १९५३-१९९६ और सन् १९९८ में कैलाश की तीन बार यात्रा की। यात्रा के दौरान उन्होंने अनेक चित्र लिये जिनसे यह स्पष्ट होता है कि वहाँ कभी मानव निर्मित भवन थे। चित्रों में एक sphinex भी दिखाई देता है जो शायद मिस्त्र में बने पिरामिडों का आदि स्त्रोत रहा होगा। श्री भरत हंसराज शाहा ने लिखा है–

"During my last two yatras, going away from stipulated and regulated route, I have tried to find any possibility. The particular place, I have visited and photographs-slides I have taken, shows excellent results inviting more study in that direction. There is a cathedral like chiselled mountanin in front of South face of Mount Kailas. An image of sitting lion can be seen on its top. ("Sinhnishadhya" prasad). Vertical sculptures are visible on its middle part. A "Sitar" like musical instrument is also visible with one of the sculptures. The tops of few mountains near this mountain are very identical. Their tops are rectangular in shape in front. The mountains themselves are also identical and are of the shape of Gopurams. There is a Gokh (Zarookha) clearly visible in one of the mountain facing Nyari Gompa across the river. In the same range there is a sphinx like huge image in a mountain. Few cubicle shaped huge stones are lying in the ares. Gear teeth shape marble stones are also seen in a pillar like shape in one of the mountains. Bevelled

marble stone borders is also visible on one of the hills. Chabutara shaped ruin is also seen at a place. All this shows that is past, a large scale human work is done at this place. Only in Jain Indology it is mentioned that huge temples, chaityas, stupas were erected in Ashtapad vicinity... (Ashtapad: A Possibility)

बेबीलोन के प्राचीन मन्दिरों जिनको जिगुरात कहते थे उनकी निर्माण शैली भी अष्टापद कैलाश के आधार पर ही बनी है। "The first temple or historical monument, the Ziggurat, found in region between the river Euphrates and Tigris, carried the same message of ascent. It was built by human hands, probably in the form of a stepped receding pyramid, with a chamber on the top reached by a flight of steps. ""This architectonic model has been used much later in the Aztec temple of the Sun in South East Asia. The archetype of all these symbolic monuments is the peak of Ashtapad it self a receding pyramid". (Ascent To The Divine. The Himalaya and Monasarover In Scripture Art And Thought.) अष्टापद और जिगुरात की तुलना करते हुए U.P. Shah ने "Studies in Jaina Art" में लिखा है- "The Jain tradition speak of the first Stupa and Shrine, erected by Bharat, on the mountain on which Rushabhnath obtained the Nirvana. The shrine and the stupas erected, Bharat made eight terraces (asta-Pada) between the foot and the top of mountain hence the astapada given to the first Jaina Shrine being an eight-terraced mountain, an eight terraced Ziggurat, or an eight terraced stupa."

The Ziggurat was also the mount of the Dead. Henry Frank Fort, ने अपने ग्रन्थ The Birth Of Civilisation में लिखा है.... In The Near East. In Mesopotania, the mountain is the place where....The myth express this by saying the God dies or that he is kept captive in the mountain. बर्मा में भी इसी तरह की stepped monastries देखने को मिलती है। जिसके विषय में' A History Of Indian And Eastern Architecture' में James fergusson ने लिखा है- "It may be asked, How it is possible that a Balylonian form should reach Burma with-out leaving traces of its passage through India? It is hardly a sufficient answer to say it must have come via Tibet and central Asia," (pg.365)

John snelling ने अपनी किताब "The Sacred Mountain' में कैलाश पर्वत की तुलना एक विशाल मन्दिर से की है । अतः चाहे वह मिश्र के पिरामिड हों, बेबीलोन के जिगुरात हों या बर्मा के पगोडा सबकी ढाँचा शैली में एक समानता देखने को मिलती है जो यह स्पष्ट करती है कि इन सबका प्राचीन मूल आधार अष्टापद पर निर्मित स्तूप एवं मन्दिर रहे हैं।

इन सब तथ्यों का तुलनात्मक अध्ययन कर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कैलाश की अपेक्षा अष्टापद का दायरा विशाल है जिसमें पूरी कैलाश शृंखला समाहित है। आदि तीर्थंकर की पुण्य भूमि होने के कारण इसकी पवित्रता एवं पूज्यता प्राचीन काल से परम्परा के रूप में अक्षुण्य रूप से चली आ रही है। साहित्य में उपलब्ध वर्णन के अनुसार अनेक महान् आत्माओं ने इस तीर्थ की समय-समय पर यात्रा की। दुर्भाग्यवश भौगोलिक एवं राजनैतिक कारणों से जब इस सिद्ध क्षेत्र में आवागमन अवरुद्ध हो गया तो इसकी स्मृति को जीवन्त बनाये रखने के लिये अपने-अपने पहुँच के क्षेत्र में अष्टापद जिनालय बनाये गये और उनके दर्शन पूजा से अष्टापद को चिरकाल से धरोहर के रूप में अपनी स्मृति में संजोकर रखा। सभी बड़े-बड़े तीर्थ

स्थानों और मन्दिरों में अष्टापद जिनालय बने हुए हैं। कोलकत्ता के बड़ाबाजार मंदिर में अष्टापद बना हुआ है। फलौदी के मन्दिर में तथा बिहार में भागलपुर और पटना के बीच में १७ वीं शताब्दी में भगवन्त दास श्रीमाल द्वारा स्थापित तीर्थ में अष्टापद बना हुआ है। श्रेष्ठी वस्तुपाल द्वारा गिरनार पर्वत के शिखर पर अष्टापद, सम्मेतशिखर मण्डप एवं मरूदेवी प्रसाद निर्मित कराये गये। प्रबन्ध चिन्तामणि एवं वस्तुपाल चरित्र के अनुसार प्रभास पाटन में वस्तुपाल द्वारा अष्टापद प्रसाद का निर्माण कराया था। तारंगा तीर्थ में अष्टापद निर्मित किया गया है। शत्रुञ्जय तीर्थ में आदिनाथ जिनालय के बाईं तरफ सत्यपुरियावतार मन्दिर के पीछे अष्टापद जिनालय बना हुआ है। जैसलमेर के विश्वविख्यात जिनालयों में भी अष्टापद प्रसाद है जिसके ऊपर शांतिनाथ जिनालय है। अष्टापद प्रसाद के मूल गभारे में चारों ओर ७-५-७-५ - चौबीस जिनेश्वरों की प्रतिमाएँ सपरिकर हैं। हस्तिनापुर जहाँ भगवान् ऋषभदेव स्वामी का प्रथम पारणा हुआ था भव्य अष्टापद जिनालय का निर्माण कराया गया। इस प्रकार अनेकों तीर्थों और मन्दिरों में अष्टापद जिनालय निर्मित किये गये हैं। ये परम्परा प्राचीन काल से चली आ रही है। इसी शृँखला में अमेरिका के न्यूयार्क शहर में डॉ. रजनीकान्त शाह द्वारा जैन मन्दिर निर्मित कराया गया जिसमें अष्टापद का निर्माण कराया जा रहा है। अष्टापद के ऊपर उपलब्ध साहित्य भी उन्होंने प्रकाशित किया है। इसी सन्दर्भ में जनवरी २००५ में अष्टापद पर अहमदाबाद में विद्वानों की एक संगोष्ठी भी कराई गयी।

इस प्रकार जैन साहित्य में आचारांग निर्युक्ति से लेकर वर्तमान युग में श्री भरत हंसराज शाह के लेखों और चित्रों में हमें अष्टापद पर मन्दिरों और स्तूपों के निर्माण का विस्तृत और सुनियोजित वर्णन मिलता है, जो परम्परा के रूप में आज भी जैन तीर्थों और मन्दिरों में जीवन्त है। जैन धर्म के प्राचीन इतिहास की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में अष्टापद की खोज और उसकी प्रामाणिकता साहित्यिक उल्लेखों से और परम्पराओं से स्थापित हो जाती है। यह एक महत्त्वपूर्ण विषय है जिससे विश्व इतिहास को केवल एक नया आयाम ही नहीं मिलेगा बल्कि मानव सभ्यता और संस्कृति के आदि स्रोत का पता चल सकेगा। यह हमारी अस्मिता की पहचान है और भारतीय सभ्यता और संस्कृति की प्राचीनता का अकाट्य प्रमाण भी।